

ज्ञानार्णव प्रवचन एकादश भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

एकादश भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन एकादश भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/>वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे ।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। जाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

Table of Contents

प्रकाशकीय	2
आत्मकीर्तन	3
आत्म रमण.....	4
श्लोक- 814.....	1
श्लोक- 815.....	2
श्लोक- 816.....	3
श्लोक- 817.....	3
श्लोक- 818.....	6
श्लोक- 819.....	7
श्लोक- 820.....	9
श्लोक- 821.....	13
श्लोक- 822.....	14
श्लोक- 823.....	16
श्लोक- 824.....	17
श्लोक- 825.....	19
श्लोक- 826.....	20
श्लोक- 827.....	21
श्लोक- 828.....	23
श्लोक- 829.....	25
श्लोक- 830.....	27
श्लोक- 831.....	28
श्लोक- 832.....	29
श्लोक- 833.....	30
श्लोक- 834.....	31
श्लोक- 835.....	32
श्लोक- 836.....	33

श्लोक- 837	34
श्लोक- 838	36
श्लोक- 839	37
श्लोक- 840	39
श्लोक- 841	41
श्लोक- 842	42
श्लोक- 843	44
श्लोक- 844	44
श्लोक- 845	45
श्लोक- 846	47
श्लोक- 847	48
श्लोक- 848	50
श्लोक- 849	52
श्लोक- 850	52
श्लोक- 851	54
श्लोक- 852	55
श्लोक- 853	57
श्लोक- 854	58
श्लोक- 855	61
श्लोक- 856	62
अथ सप्तदश प्रकरणम्.....	64
श्लोक- 857	64
श्लोक- 858	65
श्लोक- 859	67
श्लोक- 860	69
श्लोक- 861	71

श्लोक- 862.....	72
श्लोक- 863.....	77
श्लोक- 864.....	78
श्लोक- 865.....	79
श्लोक- 866.....	81
श्लोक- 867.....	82
श्लोक- 868.....	84
श्लोक- 869.....	85
श्लोक- 870.....	85
श्लोक- 871.....	86
श्लोक- 872.....	87
श्लोक- 873.....	88
श्लोक- 874.....	90
श्लोक- 875.....	90
श्लोक- 876.....	91
श्लोक- 877.....	92
अथ अष्टादश प्रकरणम्.....	93
श्लोक- 878.....	93
श्लोक- 879.....	93
श्लोक- 880.....	95
श्लोक- 881.....	97
श्लोक- 882.....	98
श्लोक- 883.....	98
श्लोक- 884.....	99
श्लोक- 885.....	99
श्लोक- 886.....	101

श्लोक- 887	101
श्लोक- 889	103
श्लोक- 890	105
श्लोक- 891	105
श्लोक- 892	111
श्लोक- 893	111
श्लोक- 894	112
श्लोक- 895	113
श्लोक- 896	113
श्लोक- 897	114
श्लोक- 898	115
श्लोक- 899	116
श्लोक- 900	116
श्लोक- 901	117
श्लोक- 902	118
श्लोक- 903	119
श्लोक- 904	120
श्लोक- 905	121
श्लोक- 906	122
श्लोक- 907	123
श्लोक- 908	124
श्लोक- 909	125
श्लोक- 910	128
श्लोक- 911	129
श्लोक- 912	130
श्लोक- 913	130

श्लोक- 914.....	132
श्लोक- 915.....	133
श्लोक- 916.....	134
श्लोक- 917.....	135
श्लोक- 918.....	137
श्लोक- 919.....	138

ज्ञानार्णव प्रवचन एकादश भाग

श्लोक- 814

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मञ्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे।।

शान्ति का प्रयास- इस लोक में विषयकषायों के विष से मूर्छित जगत के प्राणियों को कहीं कुछ भी शरण नहीं नजर आ रहा है। शान्ति के लिए अधिक प्रयत्न तो करते हैं प्राणी, किन्तु बाह्य अर्थों में दृष्टि बनाये रहते हैं, और इसका परिणाम यह है कि इतना श्रम करने पर भी जीव शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता। शान्ति का मार्ग तो शान्तस्वरूप जो निज आत्मतत्त्व है उसमें दृष्टि जाना और अपने आपको सर्व से विविक्त केवल ज्ञानप्रकाश मात्र अनुभव करना ऐसी मग्नता आये तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। यह सब आत्मध्यान के प्रसाद से सम्भव है, अतएव जीव को केवल अपने सहज आत्मस्वरूप का ध्यान ही शरण है। इस शरणभूत आत्मध्यान के खास अंग तीन हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तो सम्यक्चारित्र का यह वर्णन चल रहा है और उसी प्रकरण में अब परिग्रह त्याग महाव्रत की बात कह रहे हैं।

परिग्रहभार से भवसागर में डूब- जिस प्रकार समुद्र में या बड़े तालाब में कोई नाव गुण अर्थात् रस्सी से भी बंधी हुई है, लेकिन उसमें पाषाण आदिक का बोझ बढ़ जाय तो भले ही रस्सी से बँधी हुई है तो भी वह डूब जाती है, इस ही प्रकार कोई साधु बहुत संयम धारण किए हुए है, गुणवान है तो भी यदि परिजन में अथवा किन्हीं परिग्रह भावों में मूर्छा का परिणाम आया तो वह गुणवान होकर भी संसारसमुद्र में डुबता है। जिस किसी भी प्रकार का त्याग किया, परिजन का त्याग, गृह का त्याग, सब कुछ त्याग करने के पश्चात् भी यदि परिजनसम्बन्धी, वैभवसम्बन्धी, कुटुम्बसम्बन्धी मूर्छा जगती है तो वह त्याग त्याग तो नहीं होता। कारण यह है कि त्याग मूर्छारहित परिणाम का नाम है, ऐसे मूर्छावों का भार यदि बढ़ गया हो तो गुणों से बंधा होता हुआ भी वह साधु अर्थात् अपने अन्य व्रत और संयम को भी निभाता हो तब भी वह संसारसागर में डूब जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मध्यान की पात्रता परिग्रहत्याग से होती है और इसी कारण आत्मध्यान के

विशिष्ट पात्र संयमी साधुजन होते हैं। परिग्रह शब्द में दो शब्द हैं- परि और ग्रह, परि उपसर्ग है और ग्रह ग्रहण करने में आने वाली धातु है। जो चारों ओर से ग्रहण करे, चारों ओर से बाँध दे उसका नाम परिग्रह है। परिग्रह सम्बन्ध का भार संसारसागर में डूबा देता है।

श्लोक- 815

बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधा ते स्युः परिग्रहाः।

चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु चेतनाः॥

द्विविध परिग्रह- वे परिग्रह कितने प्रकार के हैं जिन परिग्रहों के भार से दबकर यह प्राणी गुणवान होकर भी संसारसागर में डूबता है, वे परिग्रह मूल में दो प्रकार के हैं- एक बाह्यपरिग्रह और एक अन्तरंगपरिग्रह। बाह्यपरिग्रह तो चेतन और अचेतन दो प्रकार के हैं, जैसे परिजन, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक ये चेतन परिग्रह हैं और घर, दुकान, धन, वैभव आदिक ये बाह्य अचेतन परिग्रह हैं, किन्तु अन्तरंगपरिग्रह सिर्फ चेतन ही होता है। बाह्यपरिग्रह ये सब इस कारण कहलाते कि ये सब बाह्यक्षेत्र में मौजूद हैं, इनकी भिन्न सत्ता है। इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यह चतुष्टय इनमें है। चूँकि इन बाह्य अर्थों में ममत्व भाव बसा रक्खा है इस कारण ये परिग्रह कहलाते हैं, पर अन्तरंगपरिग्रह तो आत्मपरिणमनरूप है; विकार भाव जगना आदि ये सब अन्तरंगपरिग्रह कहलाते हैं। यद्यपि जीव बाह्यपरिग्रहों को भी ग्रहण नहीं किए हुए हैं क्योंकि जीव तो ज्ञानरूप है, इनके न हाथ है, न पैर है, न कुछ बनता है इन ढेरों में जीव से, क्योंकि सब पौद्गलिक ढांचा है। जीव तो केवल एक ज्ञानरूप है, उसमें कल्पनाएँ जगती हैं, विचार तर्क-वितर्क होते हैं सो उन तर्क-वितर्कों से कोई बाह्यपदार्थ ग्रहण में नहीं आता, छूने में नहीं आता, फिर भी जिन पदार्थों के सम्बन्ध में इनके मूर्छा जगती हो, मम इदं- यह भाव बनता हो, इदं अहं- यह भाव बनता हो तो वह सब परिग्रह कहलाता है।

मूर्छा से परिग्रहत्व- जैसे कि प्रकटरूप में यह वर्णन चलता है कि मिथ्यादृष्टि तो पर का कर्ता है और सम्यग्दृष्टि पर का कर्ता नहीं है, इस सम्बन्ध में विचार कीजिए तो पर का कर्ता कोई परद्रव्य हो ही नहीं सकता। यह वस्तु का स्वरूप है। मिथ्यादृष्टि भी पर का कर्ता नहीं, सम्यग्दृष्टि तो पर का कर्ता अन्तरंग बहिरंग किसी रूप में भी नहीं है, लेकिन जिन बाह्य पदार्थों में करने का अभिमान रखता है मिथ्यादृष्टि जीव, सो करता तो है अपने विकार भाव को किन्तु उन विकार भावों

का जो विषय बना उन पदार्थों का उपचार से, कहा जाता है कि यह उन पदार्थों का कर्ता है। इस ही प्रकार यद्यपि बाह्यपरिग्रह इस जीव में लगे हुए नहीं हैं, अथवा कुछ संसर्ग में लगे भी हैं, जहाँ कर्म है, शरीर है, जहाँ जीव जाता है तहाँ बन्धन चलता है तिस पर भी यह निमित्तनैमित्तिक रूप बन्धन है। आत्मा कहीं अपने किसी गुण को पकड़े हुए नहीं है, छुवे नहीं है, पर ऐसा विशिष्ट निमित्तनैमित्तिक बन्धन है कि यह बन्धन में पड़ा है, अलग नहीं हो सकता। प्रयोजन यह है कि आत्मा की प्रगति जैसी समस्त वस्तुओं में होती है वैसी इसके भी है। जैसे समस्त वस्तुओं पर से विविक्त हैं, निरपेक्ष हैं, किसी का परिणमन किसी पर में नहीं जाता, किसी पर के द्वारा उपादानरूप से कुछ किया नहीं जाता किसी पर में, इसी प्रकार इस आत्मा की भी बात है। तो मूल में परिग्रह के दो भेद है- बहिरंग परिग्रह और अन्तरंग परिग्रह, अब उन परिग्रहों का विवरण करते हैं।

श्लोक- 816

दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश।
तान्मुक्तवा भव निःसंगो भावशुद्धया भृशं मुने॥

परिग्रह के चौबीस भेद- हे मुनि ! अपने परिणामों की निर्मलता से तू निःसंग बन और 10 प्रकार के बाह्य परिग्रह और 14 प्रकार के अन्तरंग परिग्रह इनको दूर कर। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों में बलवान तो अन्तरंग परिग्रह है इस जीव को सताने वाला यह अन्तरंग परिग्रह है। अन्तरंग परिग्रह बाह्यपदार्थों के संसर्ग से बनता है। कौनसे वे 10 बाह्य और 14 अन्तरंग परिग्रह हैं, इसका विवरण भेद के रूप में कर रहे हैं।

श्लोक- 817

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश॥

दशविद बाह्य परिग्रहों में वास्तु और क्षेत्र परिग्रह- बाह्य परिग्रह 10 हैं। प्रथम तो घर, दूसरा खेत, तीसरा धन, चौथा धान्य, 5 वां द्विपद, 6 वां चतुष्पद, 7 वां शयनासन, 8 वां यान, 9 वां कुप्य और 10 वां भाण्ड। कहीं दूसरी जगह से भी 10 भेद कहे हैं, पर सब चीजें आ जायें यही भेद का मतलब है। इसमें भी सब परिग्रह आ गए। प्रथम तो घर परिग्रह है, क्योंकि इस घर से लोगों को ममता रहती है, घर को बनाते हैं, सजाते हैं, उसके लिए कितने-कितने उपक्रम करते हैं, यह घर बाह्य परिग्रह है और यह घर इतना बड़ा परिग्रह है कि अगर खुद के पास घर न हो तो वह अपने को रीता सा मानता है। और घर स्वयं का हो, उसमें बसता हो तो उसमें वह अपने को समझता है कि मैं कुछ हूँ। यह घर परिग्रह प्रथम नम्बर पर रखा गया है। दूसरा परिग्रह बताया खेत। चाहे वह खेत अपने स्वामित्व में हो, चाहे केवल लगान पर हो, चाहे किसी प्रकार साझे में हो, पर जिसमें जितना ममत्वभाव है वह सब वहाँ परिग्रह है, तो दूसरा परिग्रह है खेत।

धन धान्य परिग्रह- तीसरा परिग्रह है धन। धन में स्वर्ण, चाँदी, रकम, सभी चीजें आ जाती हैं। फिर है धान्य परिग्रह। धान्य में सब अनाज आ गए। देखिये धान्य शब्द यद्यपि चावल वाले धान का पर्यायवाची है परन्तु धान्य कहकर सब अनाजों का नाम आ जाता है। जितनी किस्म धान्य में मिलेंगी उतनी किस्म और में न मिलेंगी। साहित्य के ग्रन्थों में जहाँ शस्यामल भूमि का वर्णन किया है वहाँ धान की प्रमुखता का वर्णन किया है। यह एक चिरकाल से परम्परा से चला आया हुआ भारत के एक विशेष अनाजों में से प्रमुखता रखता है। इससे धान्य सभी अनाजों का नाम समझियेगा। जैसे कोई रात का अनाज छोड़े हुए है तो उनमें कुछ बँटवारा कर लेते कि चलो तिल अनाज नहीं होता तो तिल के लड्डू खा लें, अनाज का त्याग किया गया है तो उसका दोष न लगेगा। राजगिरा, चौलाई आदिक ऐसी चीजें हैं कि जिन्हें लोग अनाज नहीं मानते, पर कोई मनुष्य इनके भी खाने का त्याग कर दे तो वह झट समझ जायगा कि सब एक ही बात है। सब धान्य में शामिल हैं। जब किसी यज्ञ पूजन में 7 प्रकार के धान लेते हैं इस प्रकार का वर्णन करें तो उनमें तिल भी लगाते हैं तो ये सब खेती करके और इस ढंग से उपजाये हुए ये सब धान्य हैं। धान्य भी अनेक प्रकार के हैं, कितने ही नाम तो यहाँ के लोग भी न जानते होंगे। कोदो, समा, कावनी, फिकार, रोटका, चीना, आदिक अनाजों को तो शायद कुछ कुछ लोग भी न जानते होंगे। मोटे अनाज भी बहुत से हैं गेहूँ, चना, मटर, मसूर, मूंग, उड़द, राहर, ज्वार, बाजरा आदिक। इन सब अनाजों का परिग्रह है धान्य परिग्रह।

द्विपद चतुष्पद परिग्रह- एक विकट परिग्रह है द्विपद का। जिसके दो पैर हों वह द्विपद हुआ। द्विपद में सभी पशु पक्षी आ गए। ये पशु पक्षी भी तो लोगों के बहुत बड़े परिग्रह बन जाते हैं।

उनका व्यापार करते, उन्हें खिलाते पिलाते, उन्हें अपना मानते। तो वैसे देखो तो मनुष्य, पशु, पक्षी सभी में चार साधन होते हैं, हाथ पैर जैसे। ये पक्षी अपने दोनों पंख फैलाकर जैसे उड़ जाते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को भाग जाते हैं ऐसे ही यह मनुष्य भी अपने दोनों हाथ चलाये बिना कहीं भाग नहीं सकता। वह भी हाथों को फैलाकर लेफ्ट राइट करता हुआ आगे भागता चला जाता है। कोई अगर अपने हाथों को न चलाये, अपने हाथों को कमर में बाँध ले तो वह भाग दौड़ नहीं सकता। तो इस परिग्रह के प्रकरण में बता रहे थे कि दोपाया, चौपाया सभी परिग्रह हैं। फिर परिग्रहों में उपलक्षण से शेषपरिग्रह लगा लेना चाहिए। द्विपद, चतुष्पद परिग्रह में मनुष्य, पशु, पक्षी सभी को ग्रहण कर लेना।

शयनासन यान परिग्रह- शयनासन परिग्रह में देखो कितना-कितना कमरों को सजाया जाता है। किसी-किसी आफीसर के यहाँ देखो तो कमरे में जितना शयनासन का परिग्रह मिलेगा उतना तो रसोईघर में भी न मिलेगा। कितनी-कितनी प्रकार की कुर्सियाँ, मेज, कितनी ही प्रकार की सजावट की अन्य चीजें ये सब शयनासन परिग्रह हैं। यान परिग्रह में देखो- यान मायने सवारी। सवारी के परिग्रह में बैल, घोड़ा, साइकिल, रिक्शा, तांगा, मोटर, फटफट आदि आ जाते हैं।

कुप्य भाण्ड परिग्रह- वस्त्र परिग्रह में देखो कितने-कितने प्रकार के वस्त्र पहिने जाते हैं। कुछ वस्त्र तो ऐसे होते हैं कि जिनमें किसी एक छोर में आग लग जाये तो तुरन्त सारा कपड़ा जल जाता है और साथ ही वह शरीर से चिपकता जाता है। जैसे लाइलोन के कपड़े इसी ढंग के होते हैं। और, कीमती कपड़ों से शायद स्वास्थ्य को भी फायदा न होता होगा। जैसे खादी के कपड़े गर्मी में पहिन लो तो लू लगने का काम बहुत कम रहता है और रेशमी कपड़ों के पहिनने से तो शरीर का स्वास्थ्य भी बिगड़ता है और साथ ही कहीं बैठना हो तो सहसा बैठ भी नहीं सकते। मंदिर में या संत पुरुषों के सामने नमस्कार करने में तकलीफ भी पड़ती होगी क्योंकि कपड़ों के बिगड़ने का डर रहता है तो सादे मोटे कपड़े पहिनने से विनय गुण भी रह सकता है। अच्छे कीमती कपड़े पहिनने में विनय गुण भी नहीं है, और फायदा क्या? कुछ भी नहीं। केवल दूसरों को यह जताने के लिए कि हम भी अच्छे हैं, हमारा पोजीशन बढ़िया है। केवल इतना मात्र जताने के लिए इतना आडम्बर किया जाता है, और, अन वस्त्रों के सिलाई का भी एक व्यर्थ का परिग्रह बन गया है। जितने का कपड़ा हो कहो उतनी सिलाई देनी पड़े। आजकल तो ऐसे फैशन के कपड़े चले हैं कि कहो कपड़े से भी अधिक सिलाई हो जाय। तो ये सब बाह्यपरिग्रह हैं वस्त्र के। 10 वां परिग्रह है भांड बर्तन। भांड शब्द पुराना है, अब भी लोग बर्तन भांडे कहा करते हैं। लोहा, पीतल, ताँबा, काँसा, इन सबके बने हुए जो बर्तन हैं। वे सब भांडे बर्तन हैं। उनका भी एक परिग्रह है। ये 10 प्रकार के परिग्रह हैं।

जिनका आश्रय करके, जिनका विकल्प बनाकर यह जीव अपने अन्तरङ्ग परिग्रह का पोषण करता है।

श्लोक- 818

निःसंगोऽपि मुनिर्न स्यात्यमूर्च्छः संगवर्जितः।

यतो मूर्च्छैव तत्त्वज्ञैः संगसूतिः प्रकीर्तिता।।

मूर्च्छा से परिग्रह की सूति- जो मुनि निःसंग हो अर्थात् बाह्यपरिग्रहों से रहित हो, फिर भी परिग्रहों में ममता करता हो तो वह निष्परिग्रह नहीं कहला सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञानी विद्वानों ने ममत्व परिणाम को ही परिग्रह की उत्पत्ति का साधन माना है। जो परिग्रही है वह निष्परिग्रहता का भाव नहीं समझ सकता है। एक कथा आई है कि एक मुनिराज किसी नगर में चातुर्मास कर रहे थे तो नगर से बाहर किसी अच्छे स्थान पर किसी वृक्ष के नीचे चातुर्मास का स्थान चुना। नगर का एक सेठ भी जो बहुत बड़ा धर्मात्मा था उसने भी यह नियम लिया कि मैं चार महीने मुनिराज के समीप निवास करूँगा पर मेरा लड़का कुपूत है और व्यसनी है, यह सोचकर उसने घर का जो कीमती द्रव्य था हीरा, जवाहरात, सोना, चाँदी वगैरह उसे एक हंडे में भरकर उसी पेड़ के नीचे गाड़ दिया। यह बात किसी तरह से उस कुपूत को मालूम हो गई थी, सो चातुर्मास के बीच में ही किसी दिन मौका पाकर वह उस हंडे को निकाल ले गया। जब चातुर्मास समाप्त होने को हुआ, साधु के विहार करने का अवसर आया तो सेठ ने उस स्थान पर देखा तो वह हंडा न मिला। सेठ ने सोचा कि यहाँ हम और इन साधु के अलावा कोई रहता न था, और कोई नहीं ले गया, इन्हीं साधु महाराज की इसमें कुछ करतूत है सो साधु से वह खुले शब्दों में तो न कह सका, पर कुछ कहानियों के द्वारा उस बात को कहा। उसमें यही बात झलकती थी कि इन साधु महाराज ने हमारा हंडा खोद निकाल लिया है। साधु सेठ के मन की सब बातें समझ रहा था। तो साधु ने भी उत्तर में कुछ कथायें ऐसी कही कि जिसमें यह भाव भरा था कि अरे सेठ वह तेरा भ्रम है। इतने दिनों तक तूने धर्मकर्म किया, पर अब तू अपने गुरु पर दोष लगाकर इतना अपराध कर रहा है कि जिसे कुछ कहा नहीं जा सकता।

अविवेचित कार्य में पछतावा- उस सेठ की और उन मुनिराज की कहानियाँ बड़ी रोचक हैं जिनमें से एक कथा सुन लीजिए- कोई घर की मालकिन पानी भरने के लिए कुवें पर गई, घर पर उसका बालक सो रहा था। वहीं एक पालतू नेवला रहता था, वह बड़ा स्वामीभक्त था, खूब साँप,

छहूँदर आदि जीवों से घर की रक्षा करे। बालक सो रहा था आँगन में, वहाँ एक सर्प आया तो नेवले ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और यह सोचकर कि मैंने बड़ा अच्छा काम किया है, इस सर्प को मारकर अपनी मालकिन के बच्चे को बचा लिया है, मालकिन मेरे ऊपर बहुत प्रसन्न होगी, वह अपने वैसे ही मुँह जैसा उस खून से लाल हुआ था, दरवाजे पर आ गया। जब मालकिन जल भरकर लाई तो देखा कि नेवले का मुख खून से लथपथ है, सोचा कि मेरे बच्चे को इसने काट डाला होगा, सो झट हाथ में जो घड़ा लिए थी उसे उस नेवले के सिर पर पटक दिया। नेवला मर गया। जब मालकिन अन्दर जाकर देखती है तो चारपाई पास सर्प के खण्ड-खण्ड पड़े हैं और बच्चा चारपाई पर खेल रहा है। ऐसी अपनी करतूत पर मालकिन बहुत पछताई।

विरक्ति की घटना- सब कथा सेठ का वह कुपूत लड़का भी सुन रहा था। उस कथा को सुनकर उसके एकदम वैराग्य जगा कि धिक्कार है इस परिग्रह को जिस परिग्रह के पीछे गुरुजन पर भी शंका की जाती है, एकदम विरक्ति आयी और हाथ जोड़कर बोला- महाराज वह घड़ा तो मैंने खोद लिया था, घर में रखा हुआ है, अब सेठ जी जायें, घर में रहें और उस वैभव की रक्षा करें, मुझे तो अब सब वैभव से कुछ प्रयोजन नहीं रहा, मुझे तो आप दीक्षा दीजिए, मेरा भाव इस संसार से विरक्त हो गया है।

निष्परिग्रहता से समृद्धिलाभ- प्रयोजन यह है कि यह परिग्रह ऐसा है कि जिस भाई के पास पहुँचे वह दूसरे भाई के प्रति नाना विकल्प करता है। ये तो 10 प्रकार के परिग्रह हैं। इन परिग्रहों में जो मूर्छा का परिणाम आये, विकार भाव जगे, वे सब हैं अन्तरंगपरिग्रह। शल्य तो अन्तरंगपरिग्रह की होती हैं, पर अन्तरंगपरिग्रह न रहे ऐसी स्थिति लाने के लिए बाह्यपरिग्रह छोड़ देते हैं। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि परिग्रह तो अन्तरंग ही कहलाते। बाह्यपरिग्रह बने रहें तो भी ऐसी स्थिति बन जायगी कि उसमें मूर्छा परिणाम न जगे, आत्मध्यान के पात्र बने रहें, यह सोचना छलपूर्ण तर्क है। जो साधु इन बाह्य तथा आभ्यन्तर 24 प्रकार के परिग्रहों को त्यागकर निःसंग हैं वे मोक्षमार्गी हैं। निष्परिग्रहता से चिन्ताएँ दूर होती हैं, और जिसका निश्चिन्त जीवन हो वही आत्मा का ध्यान कर सकता है। जो इस आत्मा का ध्यान कर लेता है उसको सर्वसमृद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जीवन में एक आत्मध्यान ही शरण है, अन्य कुछ शरण नहीं है।

श्लोक- 819

स्वजनधनधान्यदाराः पशुपुत्रपुराकरा गृहं भृत्याः।

मणिकनकरचितशय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः॥

परिग्रह की ग्रहरूपता- बाह्यपरिग्रह कौन कौन हैं? इस सम्बन्ध में यद्यपि 10 भेद बता दिये थे, अब 10 या किसी भेद में सीमा न रखकर उपयोग में आने वाले अनेक पदार्थों को बता रहे हैं कि ये बाह्य सब परिग्रह कहलाते हैं। स्वजन कुटुम्ब, यह तो परिग्रह सब परिग्रहों में एक विकट परिग्रह है। बाह्य जड़ पदार्थ तो इन्हें हम अपना मानें, इनका हम संग्रह करें तो परिग्रह बनते हैं, किन्तु ये स्वजन उनको हम अपना मानते हैं, और अपनी ओर से कुछ ऐसा व्यवहार करते हैं कि हमारा उनकी ओर आकर्षण हो सके। और, अचेतन पदार्थ तो अपनी ओर से कुछ कहते नहीं। लेकिन हम अपने ही भावों से उनको परिग्रह बनाते हैं। यद्यपि स्वजन में भी अपने ही भावों से परिग्रह बनाते हैं लेकिन उनकी ओर से कुछ चेष्टा होती है रागभरी, जिससे यह शिथिल भी होता हो कभी तो पुनः उत्तेजित हो जाता है ममत्व करने में। वैसे तो रंचमात्र भी परिग्रह हो तो उन परिग्रह के आधार पर और और परिग्रह बढ़ाकर बहुत परिग्रही बन जाते हैं। एक साधु था तो उसकी लंगोटी को कोई चूहा उठा ले जाता था तो उसने सोचा कि एक बिल्ली पाल लें तो चूहों से रक्षा हो सकेगी, सो उसने एक बिल्ली पाल लिया, अब बिल्ली को चाहिए दूध सो दूध के लिए एक गाय पाल ली, गाय चराने के लिए एक नौकरानी रख ली। संयोग की बात कि बिल्ली के भी बच्चे हुए, गाय के भी बच्चे हुए और दासी के भी बच्चे हुए, अब सबकी भीड़ लग गई। आजीविका से परेशान होकर एक दिन किसी गाँव में रहने के लिए सोचा, सो सारी भीड़ भड़कड़ लेकर चल दिया। रास्ते में एक नदी पड़ी, जब उस नदी से निकल रहे थे तो एकाएक बाढ़ आयी, सब बहने लगे तो गाय, बछड़ा, बिल्ली के बच्चे, दासी के बच्चे सभी उससे चिपटने लगे। तो साधु सोचता है कि यह तो बड़ी आफत आयी, हम भी डूबेंगे, ये सब भी डूबेंगे, उसने सोचा कि इस सारे परिग्रह का कारण एक लँगोटी है, यदि यह लँगोटी न होती तो आज यह आफत न आती। आखिर साधु ने उस लँगोटी को भी खोलकर फेंक दिया, फिर तो वह साधु भी बच गया और वे सब भी बच गए। तो अल्प मात्र परिग्रह से भी बढ़ बढ़कर एक विशाल परिग्रह बन जाता है। धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, नगर, गाँव, घर, नौकर, माणिक, रत्न, स्वर्ण, चाँदी, शय्या, वस्त्र, आवरण, श्रृंगार ये सभी के सभी पदार्थ बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। अब देखिये बाह्य परिग्रहों में ऐसा क्या है जो इस मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हो? ऐसे बहुत कम हैं? अनावश्यक परिग्रह लोग रखा करते हैं, वह शल्य का ही कारण है। जिस चीज की जरूरत भी नहीं है, जो व्यर्थ में जगह घेरे पड़ी रहती है ऐसी ऐसी चीजों का परिग्रह लोग रखा करते हैं। जैसे बच्चे लोग एक माचिस में न जाने कितनी-कितनी चीजें रखकर खेला करते हैं- एक आध माचिस की काडी, एक दो पैसे, कुछ गोखी, कुछ इमली के बीज, यों

अनेक चीजें एक छोटी सी माचिस के अन्दर रखते हैं। उस छोटी सी माचिस को ही एक पंसारी की जैसी दुकान बना लेते हैं, ऐसे ही बिना मतलब की चीजों का परिग्रह लोग रखा करते हैं।

श्लोक- 820

मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।

चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥

परिग्रह की हिंसारूपता- अब आभ्यन्तर परिग्रह बतला रहे हैं। आभ्यन्तर परिग्रह 14 प्रकार के हैं- मिथ्यात्व, 3 वेद, और हास्यादिक 6, क्रोध, मान, माया, लोभ 4, इस तरह अन्तरङ्ग के 14 परिग्रह होते हैं, इन्हें परिग्रह कहो अथवा हिंसा कहो, इसमें कोई अन्तर नहीं है, यदि स्वरूप देखा जाय। हिंसा का अर्थ है जो प्राणों का वध करे, जो प्राणों को घात करे उसका नाम है हिंसा, और जो परिग्रह का भाव है, मूर्छा का जो परिणाम है वह अपने आपकी हिंसा करता है, अपने चैतन्यस्वरूप का विकास रोकता है तो परिग्रह भी एक हिंसा है। जो 5 भेद किए गए हैं पाप के वे प्रकृति की मुख्यता से किए गए हैं, परिणाम की दृष्टि से तो पांचों के पांचों पाप हिंसा कहलाते हैं। हिंसा में बाह्य प्राणों के घात की मुख्यता नहीं है, किन्तु स्वयं के विकार होने से स्वयं की शान्ति का घात होने से स्वयं के ज्ञानदर्शन के विकास होने का नाम हिंसा है। जो जीव प्राणियों के प्रति विरोध का भाव रखते हैं, दूसरे के प्राणों का घात विचारते हैं उन्होंने हिंसा तुरन्त कर ली। अब कैसे प्रयत्न बने, और कदाचित् दूसरे प्राणी की हिंसा हो वह भविष्य की बात है। कभी कभी तो हिंसा का बन्ध पहिले हो जाता और बाह्य में हिंसा साबित होती है और यहाँ तक कि हिंसा का बन्ध भी हो जाय और उसका फल भी भोग ले और जिसकी हिंसा करने का फल मिला है उसकी हिंसा उसके बाद हो, यहाँ तक भी सम्भव है। जैसे कोई पुरुष किसी की हत्या करना चाहता है तो चाहता है बस इस भाव में ही उसे हिंसा का पाप लग गया और उसकी स्थिति जुड़ी अबाधाकाल छोड़कर उस बाँधे हुए कर्म का फल भी भोगने लगे अब उसे मारने का अवकाश मिले चाहे 50-60 वर्ष बाद लेकिन उस हिंसा के परिणाम का फल तुरन्त भोग लिया। तो इससे यह निर्णय करना कि हिंसा करना अपने पापपरिणाम का नाम है। दूसरे का अपघात विचारना, हिंसा विचारना इसका नाम है हिंसा अथवा अनेक प्रकार से अहित विचारना, अपने आपको विषय और कषायों में लगाना यह भी हिंसा है। तो जितने प्रकार के परिग्रह हैं उनमें जो ममत्व का भाव है, मूर्छा है वह सबकी सब हिंसा है।

चतुर्दश अन्तरङ्ग परिग्रहों में मुख्य मोह परिग्रह- अन्तरङ्ग परिग्रह 14 प्रकार के हैं। मिथ्यात्व मायने मोह। समस्त पदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का स्वरूप ज्ञानमात्र अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जो है ऐसा यह मैं सबसे न्यारा हूँ लेकिन ऐसे विविक्तपन की प्रतीति न करके बाह्यपदार्थों में आत्मप्रतीति करना, उनमें ममत्व रखना ये सब मोह कहलाते हैं। मोह सब पापों में प्रथम है और सबकी जड़ है, जैसे कर्मों में सब कर्मों की जड़ मोहनीय है, जब मोहनीय कर्म नहीं रहता तो बाकी कर्म कब तक रहेंगे, वे भी धीरे-धीरे सब शिथिल होकर नष्ट होकर समाप्त हो जाते हैं। मोहनीय कर्म सबसे पहिले दूर होता है और इसी बात की सूचना में तत्त्वार्थसूत्र के दशम अध्याय में जो सूत्र आया है मोहक्षपाज्ज्ञाना दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्, मोह और ज्ञानावरण के क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तो इसमें जो चारघातिया कर्मों में मोह को सर्वप्रथम बताया है उसका कारण यह है कि जीव के चारघातिया कर्मों में सबसे पहिले मोहनीय का क्षय होता है, और उस मोहनीय कर्म में भी सबसे पहिले मोहनीय का क्षय होता है, पश्चात चारित्रमोहनीय का क्षय होता है, फिर इसके बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन घातिया कर्मों का एक साथ क्षय हो जाता है, यों चारघातिया कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तो सर्वपापों में पाप है मोह। सर्व बैरियों में बैरी है मोह। समस्त अनर्थों में मूल है मोह। संसार में अनेक दुर्गतियों में अनेक योनियों में जो भ्रमण करते चले आ रहे हैं, उन ही प्रकार के वहाँ संक्लेश चलते हैं, उन सबका आधार मोह परिणमन है। तो अंतरंग परिग्रहों में प्रधान परिग्रह मोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ नामक अन्तरंग परिग्रह- अब चर्चा में 4 कषायें ले लीजिए- क्रोध, मान, माया, लोभ। कोई पुरुष समस्त बाह्य परिग्रहों का त्यागी होता है, वन में रहता है, एकान्त है, एकान्त निवास है, व्रत और तपश्चरण भी करता है, किन्तु चित्त में क्रोधभाव जगता है और उस क्रोध को अपनाता भी है तो वह परिग्रही है। देखने में ऐसा मालूम होता है कि कोई भी परिग्रह नहीं है किन्तु कषाय लगी है तो वह परिग्रह है। और कषायों का अपना रहा है तो यह महापरिग्रही है, फिर भी वह मिथ्यादृष्टि हुआ। कषाय जगती है क्रोधवश, पर उस कषाय परिणामों को यह ही मैं हूँ, मैं ठीक कर रहा हूँ इस प्रकार की धुन हो तो उसे कहते हैं मोह। तब हो जाता है मिथ्यात्व अन्यथा मोह तो है नहीं। कभी कदाचित् कषाय जगी, उसे अपनाते नहीं है तो वह विकार है, लेकिन मोह परिग्रह अभी नहीं हुआ। मोह के सम्बन्ध में यह कषाय महापरिग्रह का रूप रख लेती है, इसी प्रकार मान कषाय, अभिमान, मनुष्यों में मानकषाय की प्रधानता बतायी है।

चार गतियाँ हैं- उनमें नरकगति में प्रधान क्रोध, तिर्यञ्च में प्रधान माया, देव में प्रधान लोभ और मनुष्य में प्रधान है मान। यद्यपि ये कषायें चारों गतियों में पायी जाती हैं पर प्रधानता की दृष्टि

से यह बात बतायी गई है और प्रायः जन्मते समय इन गतियों में उन्हीं कषायों का उदय आता है। यह मनुष्य तो इस मान का पुतला बन गया है, जरा जरासी बात पर यह अपना मान बगराता है। बालक हो, जवान हो, बूढ़ा हो सभी इस मानकषाय को लिए बैठे हैं। तो यह मानकषाय भी परिग्रह है। माया कषाय, छल, कपट, मायाचार, मन में कुछ है, वचन में कुछ है, करते कुछ और हैं, इस प्रकार के जो वक्रभाव हैं वे हैं मायाचार। और मायाचारों में बड़ा मायाचार तो वह है जिसकी मायाचारी भी प्रकट न हो सके। जंचे यों कि यह बहुत सीधा है, सरल है, पर मायाकषाय बड़ी गहन पड़ी हुई है। तो मायाचार परिग्रह है, लोभकषाय, तृष्णा, लालच, ये तो प्रकट परिग्रह हैं। लोकव्यवहार में भी लोग लोभ को परिग्रह जाना करते हैं, क्रोध, मान, माया को परिग्रह कहने वाले कम हैं लेकिन जैसे लोभ कषाय परिग्रह है ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय भी परिग्रह कहलाते हैं।

नोकषायरूप आभ्यन्तर परिग्रह- शेष आभ्यन्तर परिग्रह है नो कषाय। इसमें जो आसक्त होता है वह इन चार कषायों के संसर्ग से इनमें बढ़ती है। हास्यकषाय- दूसरे की बात पर हंसी आना, मजाक कर देना ये सब परिग्रह है। परिग्रह कहो, हिंसा कहो, इनसे अपने आपका विघात होता है। जिसकी हंसी करने की प्रकृति होती है वह हंसी में झूठ भी बोल सकता है, लड़ाई भी कर सकता है और कहते भी है लोग कि लड़ाई की जड़ हँसी और रोगों की जड़ खँसी। बड़े बड़े रोग होते हैं वे खँसी से प्रारम्भ होकर बड़े बन जाते हैं। जैसे जीर्णज्वर है, टी बी है, अनेक ऐसे रोग हैं जो खँसी से प्रारम्भ होते हैं। उसमें कुछ ज्यादा तकलीफ न हो तो उपेक्षा कर देते हैं। यह खँसी बड़े रोगों की जड़ बन जाती है। इसी प्रकार यह हंसी जरा सी बात में दूसरों से लड़ाई करा देती है। थोड़े ही समय बाद वह हंसी बड़ी लड़ाई का घर बन जाती है। तो यह हंसी परिग्रह भी जीव की हिंसा करने वाली है। प्रीति जगने पर वस्तु में प्रीति उत्पन्न होना, जैसे कभी सफर में किसी टिकटचेकर ने कुछ गलती के कारण टिकट ले ली तो मुसाफिर उसके पीछे पीछे लगा फिरता है, ऐसे ही किसी पदार्थ में रति है तो वह पदार्थ भी उसके लिए विकट परिग्रह बन जाता है। जिसमें भी पराधीनता के अनुभव हों वे सब हिंसा के परिणाम हैं। दूसरे का भला देखने की प्रवृत्ति हो अथवा न हो किन्तु जहाँ अपने आपमें पराधीनता का भाव आया वहाँ स्वाधीन वृत्ति नहीं बन सकती। चित्त में अनेक प्रकार के क्लेश और संक्लेश रहें तो वे सब हिंसा हैं। पर पदार्थों में द्वेष का परिणाम होना सो अरति परिणाम है। यह तो प्रकट हिंसारूप है, इसमें तो स्पष्ट आत्मघात की बात जंच रही है। जब किसी प्राणी के प्रति हम द्वेष भाव रखते हैं तो वह द्वेष परिणाम हमको शल्य की तरह चुभता है और उसमें अनेक प्रकार के विकल्प और संकल्प की बात सोचते रहते हैं। शोक रंज का परिणाम हो उसे परिग्रह कहते हैं, और रंज का परिणाम यह साक्षात् हिंसा ही तो है, अपने आपका उनके

घात है। भय, डर होगा किसी अन्य पदार्थ को अनिष्ट मान लेने के कारण उनसे भय का परिणाम होना यह भी हिंसा है, परिग्रह है और परपदार्थों से ग्लानि करना, घृणा करना, आदिक भी परिग्रह हैं। इन सर्वपरिग्रहों से रहित जो मुनि हैं वे आत्मध्यान के पात्र होते हैं। जैसे लोग चाहते हैं कि मुझे आत्मा का ज्ञान हो और आत्मा का दर्शन हो, आत्मा का ध्यान बने, उसी में हम रंग जायें, सबकी यही इच्छा होती है कि कुछ भी जिसका धर्म की ओर भाव हो वे चाहते हैं कि मैं आत्मा में मग्न हो जाऊँ लेकिन नहीं हो पाते तो अनेक प्रयत्न करते। हम आत्ममग्न क्यों नहीं हो पाते? और उसका कारण यही है कि ये 14 प्रकार के परिग्रह अन्तरंग में लगे हुए हैं विशेष विशेष रूप से इस कारण से आत्मस्वरूप की ओर ध्यान नहीं जमता है। आत्मध्यान की विराधना करने वाले ये अन्तरंग 14 प्रकार के परिग्रह हैं। और इन अन्तरंग परिग्रहों से बचने के लिए बाह्य में बाह्य परिग्रहों का त्याग किया जाता है।

अन्तरंगपरिग्रह की शल्यरूपता- कभी ऐसा भी हो जाता कि बाह्यपदार्थों का त्याग तो कर दिया, बाह्यपदार्थों को हम अपनी दृष्टि में न लायें, ऐसा भाव करके भी त्याग दिया और कदाचित् उसमें दृष्टि पहुँच गयी, नहीं भी परिग्रह है तो उसे परिग्रह का दोष लगता है और ध्यान की विराधना होती है। पुष्पडाल मुनि की कथा बहुत प्रसिद्ध है। जब पुष्पडाल मुनि आहार करके जंगल जाने लगे तो उनके पहिले के मित्र वारिषेण उन्हें छोड़ने गए। जब काफी दूर तक संग में वारिषेण चले गए तो रास्ते में पुष्पडाल मुनि को याद दिलाया कि देखिये महाराज यह वही बाग है जहाँ हम आप पहिले खेला करते थे, इसलिए याद दिलाते थे कि महाराज यह समझ जायें कि अब काफी दूर आ गए, लौट जाने की आज्ञा दे दें। लेकिन धीरे-धीरे वे उस जंगल पहुँच गये तो वहाँ उनके वैराग्य जगी और साधु हो गए। कुछ दिन तो ठीक चले, फिर एक बार ध्यान किया कि मैं अपनी स्त्री को छोड़कर चला आया था, कहकर नहीं आया था, वह न जाने कहाँ क्या करती होगी? वह स्त्री भी कानी थी। जब इस विकल्प में वे पड़े हुए थे तो पुष्पडाल ने झट उनके मन की बात को पहिचान लिया। पुष्पडाल ने सोचा कि कोई ऐसा उपाय करे कि इस वारिषेण को विरक्ति हो जाय। तो पुष्पडाल ने क्या किया कि अपनी माँ को सूचना दी कि कल के दिन हम घर आवेंगे, सभी रानियों को खूब सजाकर रखना। माता ने जब यह सन्देशा सुना तो सोचा कि मेरे पुत्र के शायद कोई विकारभाव उत्पन्न हो गया है। फिर ध्यान दिया कि शायद इसमें कोई राज हो। खैर, एक सोने का सिंहासन सजा दिया और एक काठ का, इस ख्याल से कि अगर चित्त में विकारभाव उत्पन्न हुआ होगा तो सोने के सिंहासन पर बैठ जायेंगे और अगर और कोई राज की बात होगी तो इस काठ के सिंहासन पर बैठ जायेंगे। दूसरे दिन पुष्पडाल मुनि अपने मित्र वारिषेण मुनि के संग में राजदरबार में पधारे। तो दोनों मुनि काठ के सिंहासन पर बैठ गए। सभी रानियां आ गयी, सारा

राजदरबार खूब सजाया गया था। उन सुन्दर रानियों को देखकर वारिषेण मुनि विचार करते हैं कि अहो ! इस प्रकार की सुन्दर रानियों को त्यागकर यह साधु हुए और मैं एक कानी स्त्री की चिन्ता करता हूँ, धिक्कार है मुझे। यों उनका स्त्री के प्रति मोहभाव गल गया, फिर दोनों मुनि सहर्ष उसी जंगल चले गए। तो ये अन्तरंग की जो 14 प्रकार की कषायें हैं, विकार हैं ये जीव को शल्य की तरह चुभने वाली, दुःख देने वाली हैं, जो इन अन्तरंग परिग्रहों को भी दूर करता है वह आत्मध्यान का पात्र होता है।

श्लोक- 821

संवृतस्य सुवृत्तस्य जिताक्षस्यापि योगिनः।

व्यामुह्यति मनः क्षिप्रं धनाशाव्यालविप्लुतम्॥

धनाशा में बड़े पुरुषों का भी पतन- जो मुनि संवर सहित है, उत्तम चरित्र सहित जितेन्द्रिय है उसका भी मन धनाशारूपी सर्प से पीड़ित हो तो तत्काल वह मोह को प्राप्त होता है। किसी अच्छी स्थिति के बाद जब कोई खराबी आने लगती है तो वह समग्र खराबी तुरन्त नहीं आती, उसका प्रारम्भ पहिले कुछ छोटे कार्यों से होता है और फिर उस अतिचार के बाद उस छोटे दोष के बाद बराबर वे दोष हों और उनसे फिर ग्लानि न रहे तो वे फिर अनाचार के रूप रख लेते हैं। जैसे जो लोग बड़े चोर और डकैत बन जाते हैं वे एकदम किसी ही दिन बन गए हों ऐसा नहीं है, किन्तु पहिले कुछ छोटी चीजों की चोरी करने का शौक लगा, जैसे मान लीजिए किसी की चाकू चुरा लिया। फिर इससे बढ़कर धीरे-धीरे वह बड़ी चोरियाँ करने लगता है। यों ही संग त्यागकर, परिग्रह त्यागकर जो निर्ग्रन्थ हुए हैं, जो तपश्चरण करते हैं फिर भी कदाचित् कभी किसी प्रकार की आशारूपी सर्प से पीड़ित हो जाय तो वह धीरे-धीरे बढ़कर मोह की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस कारण प्रारम्भ से ही अपने आपको सावधान बनाये रखना चाहिए। गृहस्थावस्था में परिग्रह को प्रमाण बताया गया है, उस प्रमाण से गृहस्थ की एक सीमा बन जाती है। वह उससे अधिक अपने में कोई परिणाम नहीं लाता है तो वह सन्तुष्ट रहता है, उसके एक देश अणुव्रत है और जो साधु संत हैं वे परिग्रह के पूर्णतया त्यागी होते हैं, उनके परिग्रह त्याग नाम का महाव्रत होता है। तो जो परिग्रह के त्यागी हैं वे ही ध्यान के पात्र है और आत्मतत्त्व का निरन्तर ध्यान बने तो यह ध्यान अवस्था आत्मा के लिए शरण है। ध्यान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए

अर्थात् संसार के समस्त संकटों से छूटने के लिए अपना कर्तव्य है कि इन पंच पापों का त्याग करें और आत्मध्यान का और अधिकाधिक यत्न करें।

श्लोक- 822

त्याज्य एवाखिलः सङ्गो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः।

स चेत्यक्तुं न शक्नोति कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः॥

कषायविजय में सत्संग की साधनता- मुक्ति की इच्छा होने वाले साधु संतों को सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ देना चाहिए और बाह्यपरिग्रह तो छोड़ ही देना चाहिए। कदाचित् अन्तरंगपरिग्रह में से कोई परिग्रह विद्यमान रहे, किसी प्रकार की कषाय रहे तो उनका कर्तव्य है कि जो बड़े साधु हों, आत्मदर्शी हों उनकी संगति में रहें क्योंकि मुनि को समस्त संग का त्यागकर ध्यान में रहने के लिए कहा गया है। यदि ध्यानस्थ न रहा जाय तो आचार्यों के साथ संग में रहें, मुख्य चीज तो साधु का ज्ञान है, उसके बाद ध्यान है, फिर तपश्चरण है और फिर सत्संग है। ज्ञान से मतलब शास्त्रज्ञान से यहाँ नहीं है क्योंकि शास्त्रज्ञान ध्यान से उत्कृष्ट चीज नहीं है। ज्ञान का अर्थ है कि वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप को जानता रहे, ऐसा निर्विकल्प आत्मदर्शन बना रहे, इस तरह का जो ज्ञान है स्वसम्बेद्य आत्मज्ञान यह सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है, जब ऐसे ज्ञान में स्थित न रह सके तो साधु का कर्तव्य है कि ध्यान की स्थिति बनाये। देखिये ज्ञान और ध्यान में ज्ञान उत्कृष्ट है, ध्यान द्वितीय श्रेणी का है। यहाँ ज्ञान से मतलब ज्ञाता रहने से है। केवलज्ञान रहे, जाननहार रहे, रागद्वेष से निवृत्ति रहे, इस प्रकार की स्थिति में ज्ञान जो ज्ञान का ज्ञान कर रहा है वह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट काम है। इसके पश्चात् फिर ध्यान है। आत्मतत्त्व में एकाग्रचित्त होकर उपयोगी रहे, ध्यानस्थ रहे तो यह ध्यान ज्ञान से द्वितीय श्रेणी का है। जब ध्यान में भी मन न रहे तो तपश्चरण करे, अनशन, ऊनोदर आदि जितने भी तपश्चरण हैं यथाशक्ति उनको करें, और ये भी न बने तो सत्संग तो छोड़े नहीं, क्योंकि सत्संग से अपने परिणामों में विशुद्धि बढ़ती है, ऐसा इन साधुजनों को उपदेश किया जा रहा है, क्या कि बाह्यपरिग्रहों का तो सर्वथा त्याग करें, वह तो एक बाह्य चीज है, किया जा सकता है, पर अन्तरंगपरिग्रह तो मन का, आत्मा का परिणाम है, विकारभाव है, वह उठाया तो वह तो उस काल आत्मा की वस्तु है। उसका जान-बूझकर परिणाम कैसे किया जाय? तो उस समय वह अन्य उपाय करें, सत्संग में रहें। जैसे लोग कहते हैं कि इसको देवदर्शन का नियम करा दो कि रोज रोज यह

देवदर्शन करे, रात्रि के खाने के त्याग का नियम करा दो, न खाये, या अमुक चीज छोड़ा दो। और कोई कहे कि इसका मानकषाय छोड़ा दो तो मानकषाय कैसे छोड़ा दे, क्रोधकषाय कैसे छोड़ा दे? रखी चीज पर वश तो होता कि लो इसे छोड़ा दिया, पर इन कषायों का नियम कोई कैसे दिला दे? यह बात तो ज्ञान से सम्भव है। ऐसा ज्ञान उत्पन्न करें जिसके होने पर ये कषायें अपने आप दूर होती हैं, वह तो यत्न है, पर तैसे भाई कोट का त्याग कर दिया तो वह बाहर की चीज है, पर इस क्रोधकषाय के त्याग का नियम कौन दिला दे, वह तो नियम न बनेगा। वह ज्ञानसाध्य बात है। ऐसा तो नियम दिलाया जा सकता है कि जब क्रोध आये तो मौन रह जाय, बोले नहीं। ओंठ से ओंठ मिला ले। यह बात तो नियम में दिलाई जा सकती है। कोई क्रोध के त्याग का नियम जबरदस्ती कैसे दे सकता है? वह तो ज्ञानसाध्य बात है। विचार इस तरह का बनायें, तर्क इस तरह का करें कि जिससे कषाय दूर हों। तो ये अन्तरंगपरिग्रह कषाय आदिक ही तो हैं। यदि अन्तरंगपरिग्रह जग गया साधु के तब क्या करना चाहिए? उसके लिए यह उपदेश किया गया है कि वह सत्संग करे।

कषाय परिग्रह की भयंकरता- एक मास्टर मास्टरनी थे, दोनों भिन्न-भिन्न स्कूलों में पढ़ाते थे। रविवार का दिन था तो सोचा कि आज बाजार से कोई बढिया चीज लाकर बनाकर खाना चाहिए। तय हुआ कि आज मूंग की दाल की पकौड़ी बनना चाहिए। तो सामान जोड़ा, परिश्रम से बनाया और वे पकौड़ी कुल 21 बन गयी। जब मास्टर साहब खाने बैठे तो मास्टरनी ने उनको 10 पकौड़ी परोस दीं, अपने लिए 11 पकौड़ी रख ली। तो मास्टर कहने लगा कि हमने तो बाजार से तमाम सामान लाकर जुटाया, कितना श्रम किया और मुझे 10 ही पकौड़ी क्यों दिया? हम तो 11 खावेंगे। मास्टरनी बोली कि हमने तो बनाने में बहुत श्रम किया, हम 11 खावेंगी, दोनों में यह हठ पड़ गयी। आखिर यह तय हुआ कि अपन दोनों चुप रहें और जो पहिले बोल दे वही 10 पकौड़ी खायेगा, दोनों हठ पकड़कर घर की सांकल लगाकर चुप बैठ गए। यों दो तीन दिन बीत गए, मारे भूख प्यास के दोनों मुर्दा से पड़े रहे। आखिर स्कूल के विद्यार्थी मास्टर के घर आये, किसी तरह दरवाजे के किवाड़ फाड़कर घर के अन्दर घुसे। देखकर सोचा कि मास्टर मास्टरनी दोनों मर गए। लोगों को पता पड़ा तो आये। लोगों ने सोचा कि इन दोनों को एक अर्थी में बाँधकर ले चलो। सो दोनों को एक अर्थी में बाँधकर मरघट ले गए। वहाँ लकड़ियों की चिता बनाकर जब फूँकने का विचार था तब वह मास्टर सोचता हे कि मैं भी मरा, यह भी मरी, तो वह झूठ बोल उठा- अच्छा मैं 10 खा लूँगा, तू 11 खा लेना। समय की बात कि उस समय कुल आदमी भी 21 थे। तो लोगों ने सोचा कि यह भूत तो हममें से 10 को खा जायेगा और यह चुडैल 11 को खायेगी, यह सोचकर सब वहाँ से भाग गये। वे दोनों भी बाद में जिन्दा चले आये। तो अब भला बतावो इन कषायों का कैसे त्याग हो? इन कषायों का त्याग एक बहुत कठिन बात है। जरा जरासी बात में हठ हो जाती

है, अनेक व्यर्थ की हठ हो जाती हैं जिनमें कुछ तत्त्व नहीं। उन कषायों का परिहार ज्ञानबल से ही सम्भव है। जब कभी कषाय जग जाय तो उस समय अपना कर्तव्य है कि सत्संग की उपासना करें और ऐसा ज्ञान बनायें कि जिससे वे अन्तरङ्ग परिग्रह दूर हो जायें। देखिये अन्तरंग परिग्रह है कषाय, वह यदि अधिक जग जाय तो मुनि का गुणस्थान नहीं रहता। लेकिन लोक और पूजक उपासक तो उनकी मान्यता पूजा बराबर करेंगे। और, बाह्य परिग्रह में गड़बड़ी कर दे, रख ले कुछ तो फिर मान्यता पूज्यता के योग्य नहीं रहते हैं। अन्तरङ्ग कषाय को कौन जाने? क्षण क्षण में एकदम ऊँच नीच गुणस्थान हो जाते हैं, परिग्रह एक औपाधिक भाव है, कर्म की प्रेरणा होती है, विकार भाव आते हैं, किन्तु उन्हें इस ज्ञानबल से जीतना चाहिए।

श्लोक- 823

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्रसन्निभाः।

भवन्त्यत्र न सन्देहः संगमासाद्य देहिनाम्॥

परिग्रह संसर्ग में दोषों का जमाव- इस लोक में परिग्रह होने के कारण गुण तो अणुमात्र भी नहीं होता और दोष सुमेरु पर्वत सरीखे बड़े-बड़े हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। परिग्रह नाम मूर्छा का है, किसी अन्य वस्तु में यह मेरा है ऐसी जो परपदार्थ में मूर्छा जगती है वह परिग्रह है और ऐसी मूर्छा के समय में आत्मा में गुणों का विकास नहीं होता और वहाँ अवगुण अर्थात् विकारभाव बढ़ जाते हैं। गृहस्थ भी जब सामायिक करता है तो उस समय वह निष्परिग्रहता का अनुभवन करना चाहता है और वही सामायिक है। गृहस्थ को भी सामायिक के समय में विचार से मुनि कहा जा सकता है, भले ही भेष कुछ हो, लेकिन उपयोग जब अपने आपमें निःसंग अनुभव करता रहता है मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूँ, जब ऐसा अपने आपको निःसंग अनुभव करते हैं उस समय वह उपचार से महाव्रती है अर्थात् परिणाम उसके बहुत उत्कृष्ट है। महाव्रती बन नहीं गया किन्तु उसके उपशम कषाय है उस समय ऐसी पवित्रता बन जाती है कि गृहस्थ निसंगता का अनुभव करता है। बाह्यपरिग्रह कभी न भी हों किन्तु उनके विकल्प भी उठें उनकी आकांक्षा जगे तो उस समय भी अवगुण और क्लेश अनेक आ जाते हैं। कभी ऐसा स्वप्न आये कि बहुत सा वैभव प्राप्त हो गया या राज्य मिल गया, जैसे कि एक कथानक है कि किसी घसियारे को दोपहर के समय एक पेड़ के नीचे नींद आ गयी, उसके साथ अनेक घसियारे थे। उस घसियारे ने स्वप्न में क्या देखा कि

मुझे राज्यपद मिल गया, अनेक राजा सिर नवा रहे हैं, हमारी आज्ञा में भी हैं, और और भी अनेक आराम के साधन हैं, जिस समय ऐसा स्वप्न आया उस समय वह सुख मालूम कर रहा था, इतने में एक घसियारे ने उसे जगा दिया तो उसने देखा कि यहाँ तो कुछ भी नहीं है। लो वह उस घसियारे से लड़ने लगा- अरे तू मुझे जगा न देता तो मैं बड़ा सुख भोगता रहता। यद्यपि वहाँ था कुछ नहीं, पर सुख तो केवल मन की कल्पना से ही भाग जाता है। जब होता भी कुछ तो वहाँ भी कल्पना का ही सुख है और स्वप्न में भी जो दिखा है वह भी कल्पना का ही सुख है। स्वप्न में भी राज्य वैभव आदिक किसी भी परिग्रह का सम्बन्ध बने तो वहाँ भी यह जीव विकारों का ही अनुभव करता है, अवगुण का ही अनुभव करता है।

आत्मानुभूति के लिये निःसंगता की साधनता- यहाँ परिग्रह की आलोचना चल रही है, यह इसलिए है कि हे आत्मन् ! यदि तुम आत्मानुभव चाहते हो तो अपने आपको निःसंग अनुभव करो और बाह्य परिग्रह त्यागकर अपने आपको निःसंग अनुभव करो। वह तो उत्तम है ही। वह तो साधु संतों का कर्तव्य है किन्तु इतना न करते बने तो प्रतीति में और किसी किसी समय में सामायिक आदिक के काल में अपने को निःसंग अनुभव करना चाहिए। मेरा कहीं कुछ नहीं है। यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। जितना हूँ उतना ही तो मैं करने वाला हूँ और जितना जान रहा हूँ उतना ही भोगने वाला हूँ और जो कुछ ये सामायिक हैं ये ही मेरे वैभव और धन हैं, इनके अतिरिक्त बाहर में मेरा कहीं कुछ नहीं है। यों अपने आपको ज्ञानमात्र और निःसंग अनुभव करना चाहिए। यह ज्ञान बना ऐसा अनुभव कभी कभी बनता रहे तो मनुष्य जीवन सफल है और रात दिन केवल मोहरूप ही अपने को अनुभवा जाय, मैं ऐसे परिवार वाला हूँ, ऐसी पोजीशन वाला हूँ, इतने बच्चों वाला हूँ इन सब रूप अपने को निरन्तर अनुभवा जाय तो उससे जीवन में क्या सिद्धि होती है? समय निकल जायेगा, फिर मरण हो, जन्म हो, यह परम्परा रहेगी, इससे रात दिन में किसी समय एक मिनट भी यदि अपने को निःसंग अनुभव कर लिया जाय तो वह इतना पुण्य कमा लेता है कि जिस उदय में आगे एक वातावरण अच्छा पायेगा और जिसमें धार्मिक संग बना रहे, ऐसी समृद्धि पायेगा।

श्लोक- 824

अन्तर्बाह्यभुवोः शुद्धयोगाद्योगी विशुद्धयति।

नह्येकं पत्रपालम्ब्य व्योम्नि पत्री विसर्पति।।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों शुद्धियों से योग में विशुद्धता- अध्यात्मयोगी संतपुरुष बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार की शुद्धि के योग से विशुद्ध हुई शुद्धि दो प्रकार की होती है- एक बाह्य शुद्धि और एक अन्तरंग शुद्धि। दोनों शुद्धि हों तो योग विशुद्ध होता है। एक प्रकार की विशुद्धि का हठ रखकर शुद्धि नहीं हो सकती। जैसे पक्षी दोनों पंखों के आलम्बन से उड़ सकता है, फुदक सकता है ऐसे ही बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की शुद्धि किए बिना साधुपद निभ नहीं सकता। बाह्यशुद्धि क्या है? व्रत, नियम, त्याग, तपश्चरण, संयम, धारण समिति में रहना, शुद्ध व्यवहार रखना ये सब बाह्य शुद्धि हैं और अन्तरंग शुद्धि क्या है? अपने आपको ज्ञानमात्र निरखना, यही है उसकी अन्तरंग शुद्धि, और साथ ही विचार शुद्धि भी चलती है। जैसे सदोष स्थान में न बैठना, शौच आदिक से निवृत्त होकर हाथ पैर आदिक की शुद्धि करना यह भी रहे और अन्तरंग शुद्धि का भी उपक्रम रहे तो इन दोनों शुद्धि से योग से योगविशुद्धि होती है। इसी को यों कह लीजिये- एक अन्तरंगचारित्र और एक व्यवहारचारित्र। निश्चयचारित्र, व्यवहारचारित्र ये दोनों होना तो इसमें आवश्यक बताया गया है। जो योगी पुरुष हैं वे व्यवहारचारित्र की साधना करते हुए भी दृष्टि रखते हैं निश्चय चारित्र की ओर। जैसे सीढ़ियों पर हम आप जब चढ़ते हैं तो चढ़ते समय जिस सीढ़ी पर पैर रखते हैं या अब दूसरा पैर रखेंगे उसे नहीं निरखते। सभी लोग सीढ़ियों पर चढ़ते, पर जिस सीढ़ी पर पैर रखते हैं उसे ही निरखें और पैर रखें, ऐसा तो कोई नहीं करता। उसकी दृष्टि ऊपर की सीढ़ियों पर रहती है और वह सीढ़ियों पर चढ़ता रहता है। तो सीढ़ी पर चढ़े बिना ऊपर तो नहीं चढ़ सकते और ऊपर दृष्टि रखे बिना उन सीढ़ियों से भी नहीं गुजर सकते। ऐसे ही साधुसंतजन, व्रती महात्माजन व्यवहारचारित्र को पालते हैं पर व्यवहारचारित्र पर दृष्टि रखें, यह ही मुझे उपादेय है, यह ही मेरा सर्वस्व है, ढंग से बैठना उठना, पिछी कमण्डल सोधकर लेना, इनसे चर्चा करना, इतने पर ही जिसकी दृष्टि रहे और इतना मात्र कार्य करके अपने को सन्तुष्ट कर ले, मैंने व्रत खूब निभाया है, मैंने मोक्षमार्ग अच्छा निभाया है तो उसकी दृष्टि जैसे उस ही सीढ़ी पर रहे तो वह आगे नहीं बढ़ सकता। और कोई पुरुष व्यवहारचारित्र का पालन न करे। है नीची स्थिति में और केवल ऊपर निरखता ही रहे जो आत्मा का स्वरूप है, उसका ज्ञान उसकी चर्चा इसमें ही लगा रहे तो उसकी भी शुद्धि नहीं बन सकती है। जो योगी बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की शुद्धि का योग करता है वह विशुद्ध होता है। एक प्रकार की विशुद्धि से सिद्धि नहीं होती।

श्लोक- 825

साध्वीयं स्याद्धतिःशुद्धिरन्तःशुद्धयाऽत्र देहिनाम्।
फल्युभावं भजत्येव बाह्या त्वाध्यात्मिकीं विना॥

अन्तरंगशुद्धि से बहिरंगशुद्धि की श्लाघा- जीवों की बाहरी शुद्धि तो अन्तरंग की शुद्धि को उत्तम बनाती है और फलदायक होती है अर्थात् अन्तरंग में अध्यात्म की शुद्धि न हो तो बाह्यशुद्धि व्यर्थ रहती है। जैसे कोई कोयला को कितना ही साबुन से साफ करे उसमें स्वच्छता न आयगी, यह तो काला ही बनेगा। बाह्य शुद्धि कितनी ही की जाय, पर अन्तरंगशुद्धि न होने पर बाह्यशुद्धि व्यर्थ बतायी गई है। कोई पुरुष बाहरी शुद्धि बहुत करे बड़ी छुवाछूत माने- जैसे बहुत से रिवाज पहिले ऐसे थे कि चौके में जाना हों, तो जो लकीर खिची हुई है उससे पार करने में दोनों पैर एक साथ चौके में रखते थे, चौके में लकड़ी देना हो तो सारी लकड़ी हाथ में लेकर उन्हें एक साथ छोड़ते थे। यदि पैर चौके में आगे पीछे पड़े तो वे चौके को छूत मान लेते थे, लकड़ी अगर आगे पीछे गिर गई तो मानते थे कि चौका खराब हो गया। ऐसा भी कभी जमाना था। लेकिन इस शुद्धि में तत्त्व क्या है? मुक्त किसे कराना है? मुक्त कराने का अर्थ क्या है? यह आत्मा बन्धन में पड़ा है, किसके बन्धन में पड़ा है? विषय और कषायों के बन्धन में। तो विषयकषायों के बन्धन से छुटकारा दिला देना, बस यही तो मुक्ति का मार्ग है। तो ऐसा करने के लिए अपने को निःसंग अनुभव करें। मैं सबसे विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ऐसी अन्तरभावना बनायें तो इस भावना से शुद्धि प्राप्त होती है और उस अन्तरंगशुद्धि से फिर बाह्य शुद्धि की भी शोभा रहती है। जैसे कोई पुरुष छुवाछूत तो बड़ी निभायें और पग पग पर तीव्र क्रोध करे तो उसकी बाह्य शुद्धि की कोई शोभा भी हुई क्या? अंतरंग में कषाय तो वैसी ही पड़ी हुई है, तो अज्ञान मिटना, मोह मिटना यही है आत्मा की अन्तरंगशुद्धि। अन्तरंगशुद्धि हो तो उसमें बाह्यशुद्धि भी उत्तम होती है।

अन्तरंगशुद्धि की शान्तिमूलता- दसलाक्षणी के जयमाला में दृष्टान्त दिया है अशुचि से भरे घट का। जैसे स्वर्ण का घट है, उसमें मैला भरा है तो चाहे कितना ही ऊपर से उस घड़े को पानी से धोया जाय पर वह अशुद्ध माना जाता है, ऐसे ही यह शरीर अशुचि का घर है, 2-2॥ 3-4 सेर मैला भरा ही रहा करता है, आयुर्वेद के सिद्धान्त से मनुष्य के पेट में दो ढाई सेर मैला बना ही रहता है। अगर यह मैला पेट में भरा न रहे तो यह मनुष्य मरणासन्न हो जाता है। जब मनुष्य मरणहार हो गया तो इस मैल का तांता टूट जाता है। फिर यह मैला पेट में नहीं रहता। तो यह

शरीर भी मल का घर है। इस मल के गेह को कितना ही जल से नहाया जाय तो शुद्ध नहीं होता है। यद्यपि ये स्नान आदिक भी यथायोग्य करना एक ध्यान की शुद्धि है, एक मन स्वच्छ हो गया अथवा हल्का हो गया, इस शरीर में विश्राम हो गया तो वह ध्यान के योग्य हो जाता है। थोड़ा बहुत सहायक है यह बाह्यशुद्धि, किन्तु वह ही सब कुछ नहीं है। अन्तरंगशुद्धि जगे तो बाह्यशुद्धि की उत्तमता होती है और तब ही यह बाह्यशुद्धि भी फलदायक है। जैसे किसी पुरुष के प्रति प्रीति का परिणाम है, उस प्रीतिसहित कोई कार्य निभायें तो वह ममत्व रखता है। प्रीति होना वही फलदायक माना है। कोई पुरुष विरोध रखे और परिस्थितिबश कुछ विकार भी करे तो वह पुरुष उसका एहसान न माने तो यह ज्ञात होता है कि इसके परिणाम में हमारे प्रति प्रीति नहीं है। अन्तरंग प्रीति हो तो उसके उपकार का भी ममत्व होता है, ऐसे ही अन्तरंगशुद्धि हो तो बहिरंगशुद्धि का भी महत्व होता है। ध्यान देना चाहिए यह अधिक कि विषयकषायों अशुद्धि की बढे नहीं, ऐसा संग करें, ऐसी चर्चा करें, ऐसा यत्न करें, ज्ञान करें जिससे विषयकषायों से शिथिलता बनती जाय अन्यथा एक शल्य होती है, फँसाव होता है और उसी में फिर बेचैनी का अनुभव करने लगता है। तो मोहकषाय विषय का त्याग करना यही है अन्तरंगशुद्धि। अन्तरंगशुद्धि हो तो आनन्द के अनुभव बनेंगे अन्यथा बाह्यशुद्धि कितनी भी हो जाय? आत्मीय विशुद्धि आनन्द की अनुभूति नहीं जग सकती। हम अपने को निःसंग अनुभव करें, समस्त परिग्रहों से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ऐसा अनुभव करके अपनी निर्मलता बढायें और अपने को प्रसन्न और सुखिया बनायें।

श्लोक- 826

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तथाऽशुभम्।

तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्॥

परिग्रह संग की दुर्गतिबीजरूपता- संग से अर्थात् परिग्रह से काम होता है, अनेक प्रकार के वाञ्छा विकार होते हैं। जहाँ परिग्रह है वहाँ अनेक अटपट वाञ्छायें हुआ ही करती हैं और समस्त इच्छाओं में भी अत्यन्त खोटी इच्छा है मैथुन प्रसंग की, सो इस काम महाविकार का भी यह मूल परिग्रह है। परिग्रह से काम होता है। काम से क्रोध होता है। कामवासना की पूर्ति न होने पर क्रोध ही तो जगेगा और ऐसा भी जगेगा जिसमें यह कामी स्वयं तक की भी हत्या कर सकता है। क्रोध से हिंसा होती है। क्रोध में जीव पर-प्राणियों के घात में भी संकोच नहीं करता और कहो अपना भी

घात कर डाले, ऐसा भी अविवेक कर डालता है। हिंसा से पाप होता है, फिर उस पाप में नरकगति में ऐसा कठिन दुःख भोगता है जो वचनों से भी नहीं कहा जा सकता। वहाँ भूमि के स्पर्शमात्र से घोर दुःख होता, ठंड गर्मी से लोहा भी गल जाय ऐसी ठंड गर्मी की वेदना सहनी पड़ती है। नारकी जीव एक दूसरे को देखकर शस्त्रघात अग्निदाह आदि नाना दुःख देते हैं। ये समस्त विपदायें परिग्रह के सम्बन्ध से होती हैं।

श्लोक- 827

संग एव मतः सूत्रे निःशेषानर्थमन्दिरं।

येनासन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपवः क्षणे॥

परिग्रहजाल से बचकर आत्मध्यान में रत होने का कर्तव्य- जीवों को निज विशुद्ध आत्मा का ध्यान ही शरण है। जितने भी अनुभव होते हैं वे ज्ञान द्वारा होते हैं। यह ज्ञान जिस प्रकार का अपना विचार बनाये उस ढंग से उस प्रकार का सुख या दुःख अथवा आनन्द का अनुभव होता है। किसी भी परपदार्थ का आश्रय लेकर जो भी विचार बनता है उसमें क्षोभ अवश्य है। चाहे वह सुखरूप हो अथवा दुःखरूप अनुभव हो। सुख के अनुभव में भी लोभ है अर्थात् आत्मा अपने ठिकाने नहीं रहता। अपने स्वरूप को त्यागकर अर्थात् स्वरूप की दृष्टि छोड़कर अटपट अनेक प्रकार की तरंगे उठा करती हैं उससे भी क्षोभ है और दुःख का अनुभव है वहाँ भी क्षोभ है, और परपदार्थ चूँकि पर हैं, उनका जब चाहे वियोग हो सकता है तो उससे वियोग का भी खेद है। यों किसी भी प्रकार का सहारा लेकर, पर की शरण गहकर, पर को उपयोग में बसाकर आनन्द नहीं पाया जा सकता। आनन्द तो एक आनन्दस्वरूप निज शुद्ध आत्मा के ध्यान में है। वह ध्यान कैसे बनता है, उसके उपाय में बताया है कि ध्यान के यद्यपि बाह्य साधन अनेक हैं पर ध्यान में अन्तरंग साधन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। कोई पुरुष प्राणायाम श्वास निरोध, प्रत्याख्यान, धारणा, यम, नियम अनेक प्रकार के उपाय बनाये और सम्यक्त्व न हो, आत्मा का विशुद्ध स्वरूप क्या है, स्थिर तत्त्व क्या है इसका उपाय न हो तो किसका उपयोग बनाकर यह जीव स्थिर और आनन्दमय बन सकता है? स्थिर आनन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व का परिचय हो तो उसका सहारा लिया जा सकता और इसमें मग्न हुआ जा सकता, अतएव आत्मध्यान ही जीवों को शरण है और उसका अन्तरंग साधन है मुख्य सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

परिग्रह की सर्वानर्थमूलता- इस प्रकरण में सम्यक्चारित्र के स्थल में परिग्रह त्याग महाव्रत का वर्णन चल रहा है, जिसमें बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर दिया है। धन, मकान आदिक बाह्य चीजों को त्याग दिया है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह इन अन्तरंग विकारों का भी परिहार कर दिया है ऐसा निःसंग संत ही आत्मा के ध्यान का पात्र होता है क्योंकि संग में अनेक अनर्थ होते हैं। समस्त अनर्थों का मूल परिग्रह माना गया है। वादविवाद, कलह, अशान्ति जितने भी अनर्थ हैं उन सबका मूल परिग्रह माना गया है क्योंकि परिग्रह के कारण सभी शत्रु अन्तरंग शत्रु रागादिक और बहिरंग शत्रु ऐसे मनुष्यों की मंडली जो इनके संग को परिग्रह को ग्रहण करना चाहे उसके वे सब शत्रु बन जाते हैं। परिग्रह आया और उसमें राग रूप ही अपने आपका अनुभव किया, वहाँ उस शुद्ध ज्ञान स्वरूप का ध्यान नहीं बन सकता है, मैं निःसंग हूँ, समस्त परपदार्थों से बिल्कुल न्यारा हूँ, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हूँ, अपने ही प्रदेशों में मेरा अपने आपका अनुभव है और यह अपने गुणमात्र है, अमूर्त है, निःसंग है इस प्रकार निःसंग अनुभव करने पर तो अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान बन सकता है और जो अपने को ससंग अनुभव करता हो कि मैं तो ऐसी पोजीशन वाला हूँ, अनेक अनेक रूप से अनुभव करे तो चूँकि उसने परभावों का अनुभव किया है तो परभावों का अनुभव कैसे हो सकता है और ये अनर्थ अपने स्वभाव से चिग गए, परपदार्थों में आसक्त हो गए यह सब परिग्रह का फल है। गृहस्थजनों को भी यद्यपि समय-समय पर परिग्रह का उपयोग बनाना पड़ता है, दुकान आदिक की व्यवस्था करनी पड़ती है, कमाई की बात सोचनी पड़ती है लेकिन ये सब करने के बावजूद भी उनके पास काफी समय पड़ा हुआ है। दिन रात के 24 घंटे में कभी 10-5 मिनट तो अपने आपको निःसंग अनुभव करने का यत्न किया जा सकता है। अपना उपयोग है अपने आपमें है, इसे किसी ने बाँध नहीं रखा, भले ही गृह में बहुत से परिजन हैं पर किसी ने भी हमारे उपयोग को बाँध नहीं रखा है। ऐसा अपने आपमें निरखिये, हम भीतर तो स्वतंत्र ही हैं। विचार बनाने में तो हम स्वतंत्र ही हैं। जब कभी एक आध मिनट अपने को निःसंग अनुभव कर लिया जाय, मैं निष्परिग्रह हूँ ऐसा अपने स्वभाव को देखा जाय तो खुद ही जो एक अनुपम शुद्ध आनन्द प्राप्त होता है वह रक्षा करने वाला है, और शेष जितने भी विकल्प उत्पन्न होते हैं वे साक्षात् विपदा हैं और आगामी काल में भी झंझट का कारण बन जाते हैं, और झंझट ही विपदा है। विपदा से प्रारम्भ हुई विपदा का अनुभव करना अनर्थों का मूल यह परिग्रह माना गया है। निःसंग अनुभव करने का जो यत्न करता रहता है वह ज्ञानी पुरुष है और अपने को मोक्षमार्ग में लगाने वाला है।

श्लोक- 828

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता।

मुनेः प्रच्याव्यते नूनं सङ्गैर्व्यामोहितात्मनः॥

संगमुग्ध मुनि की रागादि विजयच्युति- जिन साधुओं का परिणाम परिग्रह से मोहित हो गया है उनकी ये बातें, ये गुण नष्ट हो जाते हैं। रागादिक भावों पर विजय करना। परिग्रह केवल धन का ही नाम नहीं है किन्तु अपने स्वभाव से अर्थात् किसी भी परिणाम में मूर्छित होना 'यह मैं हूँ' इस प्रकार का बेसुध रहना वह सब परिग्रह है। जिसे नाम की, यश की प्रतिष्ठा की चाह हो वह चाह भी परिग्रह है और इन धन आदिक परिग्रहों से भी अधिक परिग्रह है। भला कितना अज्ञान अंधकार है जिसकी अन्तरंग में ऐसी रुचि जगी हो, मेरा इस संसार में यश, नाम प्रशंसा हो, उसे यह पता नहीं कि मैं किन जीवों में यश की चाह कर रहा हूँ, ये सब मलिन संसार में भटकने वाले खुद असहाय हैं, खुद दूसरे की आशा रखने वाले हैं, ऐसे कातर प्राणियों का यह समुदाय है और फिर ये विनाशीक हैं, अथवा यहाँ कुछ परम्परा में मान लो 100-200 वर्ष तक कुछ यश गा दिया तो उससे इस आत्मा का क्या हित होगा, वे परपदार्थ हैं; असार हैं। इतने विशाल संसार में मरण करके कहीं के कहीं उत्पन्न हो जायेंगे, फिर यहाँ के किसी परपदार्थ से क्या हित होगा? किसी भी परपदार्थ से हमारा हित न होगा। हमारा हित तो हमारे ही ज्ञान से होगा। अपने को ज्ञानमात्र सबसे निराला, सर्व से अपरिचित, निःसंग अनुभव करें। ऐसा अन्तरंग मौलिक तपश्चरण करने वाले ज्ञानी पुरुष धन्य हैं। यह रुचि जिनके नहीं जगी और इस बाहरी जड़ वैभव परिग्रह में ही जिनकी आसक्ति जग गई है वे पुरुष रागादिक विकारों पर क्या विजय कर सकेंगे? किसी परपदार्थ के सामने अपने आपको झुका लेना यह कायरता है। अंतरंग शौर्य यही है कि अपने को निर्लेप समझना और अपने गुण गौरव से अपने आपको प्रसन्न बनाये रहना, यही है आत्मशूरता। यह कैसे प्राप्त हो सकता है? जिनको बाह्य वैभव में आसक्ति हो गई है।

संगव्यामुग्ध मुनि की सत्यादिगुणच्युति- जिनका मन परिग्रह से मलिन है उनका सत्य धर्म भी निभ नहीं पाता। चाहे कितना ही सत्य बोलने का उन्होंने नियम रखा हो किन्तु जब परिग्रहों में मन हो जाता है तो जितनी भी बातें बोलेंगे उनमें कुछ न कुछ असत्य अहित मिथ्या बातें हो जायेंगी। जिनको परिग्रह में व्यासक्ति हो गई है उनको सत्य धर्म नहीं निभता है। फिर वे आत्मध्यान कैसे कर सकेंगे? ऐसे परिग्रहासक्त जीवों के क्षमा भी नहीं निभ सकती, क्योंकि बाह्य जड़ पदार्थों के

संचय करने का भाव है और वह अपने अधीन बात नहीं है, उसमें अनेक बाधाएँ समायी है, जब अनेक बाधाएँ आती हैं तो वहाँ क्रोध आना सम्भव है। जहाँ क्रोध है वहाँ क्षमा नहीं है। परिग्रह के सम्बन्ध से क्षमा गुण भी नष्ट हो जाता है। और, एक गुण है शौच धर्म। तृष्णा रहित होना यह तो सम्भव ही नहीं है। तो इन परिग्रहों की व्यासक्ति से आत्मा के गुण नष्ट हो जाते हैं। जहाँ यह आत्मा अवगुणों का धाम बने तो उसे आत्मा का ध्यान कैसे हो सकता है? लोक में करने योग्य काम सर्वोपरि एक मात्र शुद्ध ज्ञानमात्र में हूँ ऐसी प्रतीति रखना है इससे बढ़कर कोई कार्य नहीं है हित का। यही करने योग्य है, इससे ही हमारे अन्तरंग का नाता रहे, ऐसा निर्णय रहना चाहिए। जिसका ऐसा निर्णय है उसे फिर और कुछ समझाने की बात नहीं रहती। सारी समस्या उसके इस प्रायश्चित्त से ही हल हो जाती है। लोकव्यवहार में जो बड़ी बड़ी समस्याएँ कहलाती हैं, किसी बात पर विवाद हो गया, झगड़ा मच गया तो कहते हैं कि बड़ी समस्या हो गयी, इस बड़ी समस्या को भी ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञानकला से तुरन्त हल कर लेते हैं। ज्ञानबल से जहाँ जाना कि यह तो मेला झमेला है, पुण्य पाप के अनुसार संग हो रहा है उससे हमारा हित कुछ नहीं है, ऐसा जिसके निर्णय है उसके उदारता प्रकट होती है और उस उदारता के फल में यदि तुरन्त कुछ बाह्य वैभव का परिहार भी कर लिया जाय, दूसरों को भी दे दिया जाय, वे शान्त हो जायें तो इतने से भी उसका लोकव्यवहार की अपेक्षा भी घटता कुछ नहीं है। जब निर्मल परिणाम की निधि अपने पास है तो उस निधि से कितना वैभव निकलता रहता है, कोई अनिष्ट संयोग हो गया, इष्ट वियोग हो गया, जो अपना परम इष्ट था उसका मरण हो गया, ऐसी अनेक परिस्थितियाँ भी आयें तो अज्ञानी को बड़ी समस्या बन जाती है। अब मेरा जीवन कैसे चलेगा? मेरी दुनिया लुट गयी, यों दिल कमजोर बनाकर वह संक्लेश मरण करता है। लेकिन ज्ञान की ऐसी महिमा है कि वह बाहरी किसी भी परिस्थिति से अपने आपमें कुछ विपदा ही नहीं मानता है। वह ज्ञानी पुरुष तो अपने ज्ञानस्वरूप से चिगकर पर की ओर झुकाव करने में विपदा मानता है।

जीव की पारमार्थिकी समृद्धि- इस जीव की समृद्धि मात्र इतनी ही है कि अपने आपके सही स्वरूप को समझकर उसके निकट ही स्थित रहा करे, अपने उपयोग को अपने ही निकट बनाये रहा करे, यही एक उत्कृष्ट समृद्धि है। कदाचित् कोई तीसरा पुरुष यह कह सके कि फिर तो लोक में जीना क्या, जब तक कोई दूसरों के काम न कर सके, पार्टी वगैरह न बना सके, लोक में अपना कुछ करतब न दिखाये तो फिर उसका जीवन क्या रहा? अरे उनके लिए हमारा जीवन कुछ नहीं है तो मत रहो। मेरे को तो अनन्तकाल तक यात्रा करना है, हमारा तो उससे सम्बन्ध है, यहाँ के लोगों से सम्बन्ध नहीं है, ये सब दृष्टि की बातें हैं। जब इस ओर दृष्टि रखते हैं एक सामाजिक ढंग से तो जरूर यह लगता है कि देश में हमारा स्थान होना चाहिए, ठीक है लेकिन ज्ञानी उदार पुरुष हो तो

इस प्रकार के स्थानों को तो वह थोड़े से प्रयास से भी प्राप्त कर सकता है और उन स्थानों का अर्थ यह है कि जिस बात को सुनने की जनता प्रतीक्षा करे वही बातें बोलना। ऐसा जो करता है वही नेता है। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं, उदार पुरुष हैं, अनेक समस्याओं पर उनकी पूछ वही रहती है। उनके निकट बना रहना भी एक बड़े स्थान को प्रकट कर देता है और फिर ये सभी बातें थोथी हैं, कुछ समय की हैं, सारभूत नहीं है। सारभूत प्रयोजन तो एक आत्मउद्धार का है। अपना उपयोग अपने आत्मा के निकट रहे और यह बात हो सकती है अपने को निःसंग अनुभव करने से। जब हम किसी पदार्थ के संसर्ग में बड़प्पन अनुभव कर रहे हों तो इस निःसंग ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व का अनुभव नहीं किया जा सकता। उसकी वहाँ सुध भी नहीं है। तो निःसंगता से ही आत्मा का उद्धार है और निःसंगता न भी बनी हो, लेकिन अपना स्वरूप तो निःसंग ही है, इसमें तो रंच सन्देह नहीं है। ये बाह्य वस्तुवें किसकी आत्मा से चिपकी हैं? और, बड़े गौर से देखो तो यह शरीर भी कहाँ आत्मा को छुवे हुए है? जैसे एक रस्सी दूसरी रस्सी को जकड़कर बाँध लेती है इस तरह से यह शरीर आत्मा को बाँधे हुए नहीं है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि यह आत्मा स्वयं ही शरीर से बाँधा फिर रहा है। भला किसी अमूर्त पदार्थ को कोई मूर्तिक पदार्थ बाँध सकता है? क्या किसी पुत्र स्त्री के शरीर से किसी का शरीर बाँधा हुआ है? अरे किसी का किसी से कुछ भी बन्धन नहीं है, फिर भी लोग रागवश स्त्री पुत्रादिक से बंधे-बंधे फिर रहे हैं। ऐसे ही समझ लो आत्मा भी शरीरादिक किसी मूर्त पदार्थ से रस्सी की भाँति बाँधा नहीं है किन्तु विकार का ऐसा प्रताप है, ऐसा निमित्तनैमित्तिक बन्धन बन गया है कि यह शरीर से जुदा नहीं हो पा रहा है। इस समय भी हम चाहें कि शरीर से अलग-अलग बाहर जरा चला जायें, बैठ जायें तो भी ऐसा नहीं कर पाते हैं। कितना विलक्षण निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है तो निःसंग तो मैं कुछ भी हूँ। भीतर दृष्टि दें तो ऐसे संग वाली स्थिति में भी रहकर भी हम अपने को निःसंग पा सकते हैं, और जब निःसंगता का अनुभव हो रहा हो उस समय का आनन्द भी बहुत विलक्षण है और उस ही आनन्द के अनुभव में, उस ही निःसंगता के अनुभव में कर्मबन्धन ढीले होते हैं। तो परिग्रहों से इन मोह रागद्वेषादिक का विजय करना, शुद्ध वृत्ति से रहना, क्षमाभाव रखना, तृष्णारहित होना आदिक ये समस्त गुण उसके नष्ट हो जाते हैं।

श्लोक- 829

सङ्गाः शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीररिभिः।

तत्प्रागेव सुनिःसारं योगिभिः परिकीर्तितम्।।

शरीर की निःसारता का परिचय होने पर परिग्रह की निःसारता के परिचय में सुगमता- ये संसारी जीव शरीर को प्राप्त होकर ही परिग्रहों का ग्रहण करते हैं अतएव योगी महात्माजनों ने इस शरीर को बहुत निःसार कह दिया है। अपने आपके शरीर में आत्मबुद्धि होती है कि मैं यह हूँ तो इस चेहरे को देखकर ऐसी आत्मबुद्धि होती है। प्रायः शरीर के सब अंगों से एक चेहरे में विशेष आत्मबुद्धि रखते हैं क्योंकि इस मुख से ही इस जीव की पहिचान हो पाती है। बोलचाल की जितनी भी क्रियाएँ इस मनुष्य से सम्भव हो सकती हैं वे सब एक इस चेहरे को देखकर की जाती हैं। अतएव ये सारी विडम्बनाएँ इन चेहरों के कारण ही हो जाती है। यह शरीर मैं हूँ तो शरीर का साधन भी चाहिए, शरीर के विषयों की साधना भी चाहिए। यह शरीर मैं हूँ जब ऐसा सोचे तो ये कुछ कुछ इस शरीर के नाम के लिए, यश के लिए अनेकानेक विकल्प बनते हैं। किसी का नाम और यश लोग करते हैं तो फोटो बनाकर ही तो करते हैं, प्रतिमा बनाकर ही तो करते हैं। तो यश फैलाने का साधन एक इस शरीर की मुद्रा से चलता है, अतएव इस जीव को अपने शरीर का नाम यश फैलाने का मन में चाव होता है, फिर अनेक विपदायें इसी भूल में आ जाती हैं। शरीर में आत्मबुद्धि किया, शरीर को ग्रहण किया तो सारे परिग्रह फिर ग्रहण करने पड़ते हैं, और, फिर जो परिग्रह नहीं है उसका भी परिग्रह लगा हुआ है। किसी भिखारी पुरुष को क्या यह कहा जा सकता है कि इसके पास 10 रुपये का ही परिग्रह है? अरे उसे तो सैकड़ों रुपयों की मूर्छा लगी है। हाँ वह गरीब है, उसकी निगाह तुच्छ है तो वह ज्यादा से ज्यादा 100) की ही चाह करेगा। पर 100) हो जाने पर क्या उसे हजार की चाह न होगी? तो उसे 10) ही होने के कारण निष्परिग्रही नहीं कहा जा सकता। हाँ उसकी कल्पना में 100) या हजार रुपये तक ही सीमित हैं पर उसके संस्कारों में तो तीनों लोक के वैभव की मूर्छा पड़ी हुई है।

अन्तर्बहिर्निःसंगता में आत्मयाथात्म्यपरिचय- परिग्रह की जो इतनी दौड़ है, होड़ है यह सब शरीर में आत्मबुद्धि होने के कारण है। शरीर में यह मैं हूँ, इस प्रकार की आत्मबुद्धि की, लो इसी गलती पर यह सारा परिग्रह आधारित हो जाता है। तब जिसे अपने आपको निःसंग बनाना है, निःसंग अनुभव करना है उसे यह अनुभव करना चाहिए कि मैं इस शरीर से भी न्यारा और जो कुछ तरंग विकार औपाधिक परभाव उत्पन्न होते हैं उनसे भी न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ, ऐसा कुछ प्रयोगात्मकरूप से अनुभव करें और उस अनुभव की वह निशानी है कि उस अनुभव के बाद फिर घर के ही परिजन पुत्र मित्रादिक ये सब ऐसे मालूम पड़ने लगते कि ये सब तो गैर हैं।

जिस समय अपने आपमें निःसंग और ज्ञानस्वरूप का अनुभव होता है उसके बाद उसे सब वैभव यों दिखने लगते हैं जैसे और लोगों को दूसरों के पुत्र दूसरे परिजन गैर दिखते हैं वैसे ही अपने घर के परिजनों को भी वह गैर देखने लगता है। जो मोहीजन हैं वे अन्य लोगों को तो गैर की दृष्टि से देखते हैं पर अपने परिजनों को अपने हैं ऐसी दृष्टि से देखते हैं। वे सब एक ढंग से नहीं दिख सके। यह ज्ञानी अनुभवी पुरुष सबको एक दृष्टि से देख रहा है। यह है उस अनुभव की निशानी। तो ऐसा निःसंग अनुभव करने से आत्मा को एक बड़ा शरण मिलता है, शान्ति मिलती है, कर्म कटते हैं, उसे सच्चे धर्म की प्राप्ति होती है। निःसंगता के अनुभव से ही समस्त समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं अतएव अपने को निःसंग अनुभव करें, और जिस प्रकार यह आत्मा अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर सके ऐसे ज्ञान द्वारा ज्ञान के गुप्त होने का यत्न करना चाहिए। इस आत्मध्यान से ही शान्ति का वातावरण मिलता है।

श्लोक- 830

हषीकराक्षसानीकं कषायभुजगव्रजम्।

वित्तामिषमुपादाय धत्ते कामप्युदीर्णतां।।

धनामिष पाकर इन्द्रियराक्षसों की उद्दण्डता- परिग्रह सम्बन्ध होने से इन्द्रियरूपी राक्षसों की सेना और कषायरूपी सर्पों का समूह धनरूपी मौज को ग्रहण करके ऐसी उद्दण्डता धारण करता है कि जो चिन्तना में भी नहीं आ सकती। इन्द्रियरूपी राक्षस उस आत्मा को बहुत सता डालते हैं जो आत्मा परिग्रह में व्यासक्त है। परिग्रह में ऐसी लालसा रखने वाले पुरुषों के एक क्या अनेक विपदायें निरन्तर बनी रहती हैं। प्रथम तो उसमें कोई बाधक बनता है तो उसे शत्रु मानता है और कदाचित् कोई बाधक न बने तो वहाँ विषयों के परिणाम से अपने को बरबाद कर लेता है। ऐसे ही कषायरूपी सर्प के समूह से यह डसा जाता है। परिग्रही पुरुष इतना व्यग्र रहता है कि उसे विषय कषाय ऐसा सताते रहते हैं कि वह क्षणमात्र भी शान्ति का रस नहीं ले पाता है। अपने आपको निःसंग केवल ज्ञानमात्र अनुभव करते रहें तो यह विषय और कषाय की सेना इसे सता न सकेगी। हमारा यह मुख्य कर्तव्य है कि हम अधिकाधिक ऐसा ही अनुभव करें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और समस्त परभावों से जुदा हूँ, ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको निरखने से ये विषय और कषाय की विपदायें समाप्त हो जाती हैं।

श्लोक- 831

उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरीः।

प्रत्यासत्तिं समायातः सतामपि परिग्रहः॥

परिग्रहसंग निर्वेदोन्मूलकता- यह परिग्रह यदि कुछ निकट प्राप्त हो जाय तो सज्जन पुरुषों का भी वैराग्य विवेकरूपी वृक्ष की मंजरियों का उन्मूलन कर देता है। जैसे कितना भी आम में बौर आये हो, बहुत अच्छी फसल की आशा हो और बिजली औला बौछार हो जाय तो वे सम मंजरियाँ खतम हो जाती हैं, ऐसे ही सज्जन पुरुषों में बहुत भी वैराग्य हो, विवेक हो किन्तु जब किसी समय परिग्रह में मूर्छा भाव जग जाता है तो वैराग्य और विवेक खतम हो जाते हैं, परिग्रह का ऐसा सम्बन्ध है। एक ऐसी किम्बदन्ती से लोगों को समझाया गया है कि यह परिग्रह जहाँ भी पहुँचता है उसके निकटवर्ती महान आत्मा को भी पतित कर देने का कारण बन जाता है। एक ऐसा कथानक है कि गुड़ एक बार भगवान के पास गया और उनसे प्रार्थना करने लगा (होंगे कोई ऐसे ही भगवान) कि महाराज हम पर बड़ी विपदा है। जब हम खेत में खड़े थे, गन्ने के रूप थे तो लोगों ने मुझे तोड़ तोड़कर खाया, और बच गया तो घानी में पेलकर रस निकालकर खाया, फिर वहाँ से बचे तो गुड़ बनाकर खाया, और मैं जब सड़ गया तो लोगों ने तम्बाकू में कूट कूटकर खाया। सो महाराज हम पर बड़ी विपदा है। यह सब गुड़ कह रहा है। तो भगवान बोले कि तू इसी समय मेरे सामने से हट जा क्योंकि तेरी कथा सुनकर मेरे मुँह में पानी आ गया है। एक कथानक से यह समझाया है कि बड़े से बड़े पुरुष भी परिग्रह के व्यासंग से गिर जाते हैं। परिग्रह ही समस्त दुःखों की खान है। जीव सब दुःखी हैं एक इस परिग्रह की लालसा के कारण। उस वैभव से ही लोग अपनी महत्ता आँकते हैं। यों परिग्रह का सम्बन्ध जगा तो इस जीव को समस्त विडम्बनाएँ फिर भुगतनी पड़ती हैं। तो यह परिग्रह निकट आ जाय तो बड़े-बड़े संत पुरुषों के भी वैराग्य विवेक मंजरियों को नष्ट कर डालता है। जो पुरुष अपने परिणामों को निर्विकार बनाये रहते हैं वे ही इस शुद्ध परमात्मस्वरूप के ध्यान के पात्र होते हैं और परमात्मस्वरूप का संग मिलना यही जीव को वास्तविक शरण है। मोही जीवों का संग मिलने से उनसे कोई शरण नहीं मिलता है। तो अपना शरण पाने के लिए इन परिग्रहों से रहित होने का भाव रखना चाहिए और परिग्रहरहित निज अंतस्तत्त्व का ध्यान रखना चाहिए।

श्लोक- 832

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणेः।

रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः सङ्गैरभिद्रुतः॥

संगाभिद्रुत पुरुषों की दुर्दशा- जो पुरुष परिग्रह से उपद्रवित हो जाते हैं वे विषय विषरूपी सर्प से सदैव डसे जाते हैं। परिग्रहासक्त पुरुष विषयों से व्यथित रहते हैं और काम के बाणों से चिग जाते हैं। अर्थात् विषय और कषायों में प्रधान बैरी है काम। इसके द्वारा वे सताये जाते हैं। साधु संत जो शील की परमनिर्दोष मूर्ति हैं उनकी इस शीलशालिता होने का कारण क्या है कि वे इन समस्त परिग्रहों के कारण अत्यन्त दूर हैं। जो साधन थे, आश्रय था उसे तो त्याग दिया, अब किस आश्रय पर विकारभाव उठे? जब आश्रय नहीं रहा तो विकार होने की भी गुञ्जाइश नहीं रही। जैसे लोग कहते हैं- न रहे बांस न बजे बांसुरी। जब बांस ही नहीं रहा तो वंशी किसकी बने? ऐसे ही जब परिग्रह का सम्बन्ध जिन साधुसंतों ने छोड़ा, एकाकी केवल अपने अंतस्तत्त्व का ही भाव रखने वाले पुरुषों को विषय कषाय कहाँ से पीड़ित कर सकते हैं। जो जिनके परिग्रह का सम्बन्ध है उनके विषय भी सताते हैं, कषाय भी सताते हैं और ऐसे परिग्रहासक्त पुरुष को स्त्रीरूपी शिकारी बाँध लेती है। ये समस्त विपत्तियाँ परिग्रह के सम्बन्ध से होती हैं। देखिये जीवन में शान्ति का तो अवसर वह कहलाता है जहाँ धर्म में, ज्ञान में, प्रभुभक्ति में अधिक समय बीते। जिसे थोड़ी बहुत इस धर्म से रुचि है प्रभुभक्ति ज्ञानार्जन आदिक धर्मकार्यों में जिनकी रुचि है वे यदि यह सोच लेते हैं कि थोड़ा सा और उद्यम करके अपनी आजीविका की परिस्थिति और अच्छी बना ली जाय फिर तो बहुत सा समय धर्मपालन में लगायेंगे। ऐसे मनुष्य कुछ थोड़ी बहुत सम्पदा प्राप्त कर लेते हैं तो उसके बाद उनके फिर तृष्णा बढ़ने लगती है। हजारपति से लखपति हुए, लखपति से करोड़पति हुए, यों परिग्रह बढ़ता जाता है, परिग्रह बढ़ने से शल्य और चिन्ता भी बढ़ती है। फिर धर्मपालन के लिए उन्हें समय नहीं मिल पाता है। तो यह परिग्रह एक पाश है जाल है। जैसे कोई जाल में से जितना निकलना चाहे उतना ही फंसता जाता है ऐसे ही इस गृहस्थी से कोई निकलना चाहे तो निकलता है, पर ऐसी प्रेरणा बन जाती है कि वह और अधिक फंस जाता है।

किसी ने सोच रखा हों कि हमारे कोई विशेष झंझट नहीं है, इतनी उम्र के बाद सब झंझट त्यागकर बड़ी शान्ति से अपना समय बितावेंगे, लेकिन कुछ परिग्रह सम्बन्ध होने पर फिर वे सब

बातें भूल जाती हैं। नई-नई आपत्तियाँ उसके सामने हो जाती हैं। और प्रकट बात है जब अकेले थे तब कोई विपदा नहीं थी, शादी हुई तो उसका एक सम्बन्ध जुड़ गया, अब उससे निकलते कैसे बने? कुछ समय बाद बच्चे हो गए तो और विशेष संसर्ग हो गया, फिर तो उसे अवसर ही नहीं मिल पाता है धर्म और शान्ति के पालन का। तो यह परिग्रह एक जाल है। जैसे कफ में फंसी हुई मक्खी उसमें फँसती ही जाती है, निकल नहीं पाती, फंसी-फंसी अपने प्राण दे देती है इसी प्रकार परिग्रहरूपी कफ में फंसा हुआ यह पुरुष विषयों से, कामव्यथावों से पीड़ित होता है और स्त्री पुत्रादिक परिजन उसे बाँध लेते हैं। लोग कहते भी हैं कि भाई हम तो कुटुम्ब से बाँध गए हैं, अब निकल नहीं पाते हैं। तो इन सब झंझटों का कारण यह परिग्रह है। कितनी ही घटनाएँ तो ऐसी सुनने में आ रही हैं कि डाकुवों ने घर आकर सारा धन लूट लिया और घर के लोगों को जख्मी कर दिया अलग से, और कहीं कहीं तो मार ही डालते हैं। परिग्रह के सम्बन्ध से धोखा देकर, अलग बुलाकर, गला घोटकर भी लोग प्राणघात कर डालते हैं। तो इन परिग्रहों का सम्बन्ध तो सब अनर्थों का मंदिर है। सभी विडम्बनाएँ इसी परिग्रह के कारण हैं, लेकिन परिग्रह संचय बिना जी मानता नहीं है। मोह का ऐसा प्रबल उदय है कि चित्त में वही धुन बनी रहती है। जो इस परिग्रह का त्यागकर अपने आपको निःसंग अनुभव करता है वह पुरुष अपने आपकी रक्षा कर लेता है और जो इन परिग्रहों में ही लीन हो गया वह पुरुष अपने आपको विपत्तियों में डाल देता है।

श्लोक- 833

यः संगपङ्कनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते।

स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्रिदशाचलम्॥

संगपङ्कनिर्मग्न प्राणी की अपवर्ग चेष्टा की व्यर्थता- कोई पुरुष फूलों का वाण बनाकर सुमेरु पर्वत को ढाने की कोशिश करे तो उसे लोग मूर्ख कहेंगे? कोई पतले डोरे में फूल पिरोले उसे धनुष समझ ले और फूल को ही वाण समझ ले, और सुमेरु पर्वत को ढाने की चेष्टा करे तो क्या पर्वत ध्वस्त हो सकता है? नहीं। तो जैसे फूलों के वाणों से कोई सुमेरु पर्वत को ध्वस्त करना चाहे तो वह मूर्ख है इसी तरह जो प्राणी परिग्रहरूपी कीचड़ में फंसा हुआ मोक्ष प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है वह भी मूढ़ है। परिग्रही पुरुष के मोक्ष की प्राप्ति होना अत्यन्त असम्भव है। गृहस्थी में भी सुख से रहना है तो उन्हें चाहिए कि इस परिग्रह का परिमाण कर लें और जो कुछ पुण्योदय से प्राप्त होता

है उसमें ही सन्तुष्ट रहें, उसमें ही विभाग बनाकर अपना गुजारा कर लें। यह तो उनकी शान्ति और सन्तोष का साधन है, और केवल परिग्रह की धुन में ही रहे तो वह धुन इस जीव को केवल संक्लेश ही करने वाली है। तो यह परिग्रह एक कीचड़ की तरह है। कीचड़ में फंसा हुआ प्राणी जैसे विवश है, उससे निकलना कठिन है, उसी में फंसा हुआ वह प्राणी अपने प्राण गंवा देता है ऐसे ही परिग्रह में फंसा हुआ प्राणी मोक्ष की चेष्टा करे तो वह उसकी अत्यन्त मूढ़ता है। परिग्रह रखकर यह मोक्ष कभी सम्भव नहीं हो सकता। परिग्रह है, विषयभोग है तो यह सब मूर्छा ही तो है। एक तलवार एक म्यान में समाती है, दो तलवार एक म्यान में नहीं समाती, अथवा एक सूई एक एक ही साथ एक ही समय में दो दिशाओं में नहीं सिल सकती इसी तरह एक एक उपयोग एक ही समय में दो तरफ नहीं लग सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि सांसारिक मौज भी भोगते रहे और मोक्ष मार्ग भी पलता रहे, ये दोनों बातें एक साथ सम्भव नहीं है। अब यह विवेक कर लो कि दो बातों में हमारे लिए हितकारी और उपयोगी कौनसी बात है? विषयकषायों में ही अपना उपयोग बसा रहे तो इससे अपना क्या हित होगा? उनसे हटकर एक इस ज्ञान मात्र निज अंतस्तत्त्व में अपना उपयोग बसा रहे तो यह हितकारी है। धर्म ही इस जीव का रक्षक है, अन्य तो सब धोखा है। यहाँ की सर्व प्राप्त सब चीजों का वियोग अवश्य होगा। तो यह सब परिग्रह का सम्पर्क इस जीव को क्लेश का ही कारण बनता है।

श्लोक- 834

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्।

विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये॥

अणुमात्र भी ग्रन्थ से तृष्णा का विशाल विसर्पण- एक अणुमात्र भी परिग्रह हो तो वह मोह की गाँठ को ओर दृढ़ कर देता है। थोड़ा सा परिग्रह होकर भी तृष्णा ऐसी बढ़ती है कि तीनों लोकों का राज्य भी प्राप्त हो जाय तो भी शान्ति नहीं हो पाती, इस आत्मा का पूरा नहीं पड़ पाता। बहुत-बहुत साधनाएँ भी कर ले, धर्मपालन करके बहुत बड़ी योग्यता भी बना ले लेकिन अणुमात्र परिग्रह का सम्पर्क भी बन गया तो यह मोहकर्म की गाँठ को और तेज लगा देता है, इससे इस परिग्रह से दूर रहने में ही श्रेय है। एक छोटी सी कहानी अखबार में छपी हुई थी कि किसी पुरुष और स्त्री में बड़ा झगड़ा हो रहा था। पुरुष तो कहता था कि हम बच्चे को इञ्जीनियर बनायेंगे और स्त्री कहती

थी कि हम बच्चे को डाक्टर बनायेंगे। दोनों में बड़ा तेज विवाद हो गया, बहुत बड़ी कलह हो गयी। तो एक आदमी पूछता है कि भाई किस बात पर इतनी तेज लड़ाई कर रहे हो? पुरुष बोला कि झगड़ा इस बात पर है कि हम तो चाहते हैं कि हम बच्चे को इञ्जीनियर बनावेंगे और यह स्त्री इस बात पर हठ करती है कि हम अपने बच्चे को डाक्टर बनावेंगी। तो वह पुरुष बोला कि हमें भी वह बच्चा दिखावो कौन है, उसको देखकर हम भी कुछ अपनी सलाह देंगे। तो पुरुष बोला कि अभी तो उस बच्चे के निकलने में 4 माह की देर है याने बच्चा अभी गर्भ में है, जिसके पीछे यह लड़ाई चल रही है। अरे भाई अभी तो यही नहीं पता कि वह बच्चा होगा या बच्ची होगी, पर व्यर्थ का विवाद खड़ा हो गया। तो अणुमात्र भी परिग्रह हो तो इस मोह की गाँठ को और दृढ़ कर देता है। एक स्त्री पुरुष एक चारपाई पर पड़े हुए गप्पें छाँट रहे थे। स्त्री बोली कि अगर एक बच्चा हो गया तो वह कहाँ लेटेगा? पुरुष थोड़ा सा खिसककर कहता है कि यहाँ लेटेगा...और अगर दूसरा हो गया तो?...तो कुछ और उचक गया और चारपाई से नीचे जमीन में गिर गया। उसका एक पैर भी टूट गया...और अगर तीसरा हो गया तो?...अरे अभी बच्चा नहीं है, सिर्फ कल्पना भर किया तब तो एक पैर टूट गया और बच्चे हो जायेंगे तो न जाने क्या हाल होगा? तो यह कल्पना भी बुद्धि को दुषित कर देती है। जितने भी लोग आज बड़े जाल में फँसे हैं वे थोड़ी थोड़ी इच्छाओं से प्रारम्भ करके बड़ी बड़ी इच्छायें बना डालते हैं और फिर वे एक महान जाल में फंस जाते हैं। तो समझिये कि रंचमात्र के भी परिग्रह का सम्बन्ध जुड़े तो मोह की ग्रन्थि और दृढ़ हो जाती है।

श्लोक- 835

परीषहरिपुत्रातं तृच्छवृत्तैकभीतिदम्।

वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः सङ्गसङ्गताः॥

परिग्रहसंगत यतियों का धैर्यविनाश- परिग्रह रखने वाले यती परिषहों के आने पर दृढ़ नहीं रह सकते, वे शीघ्र ही घबड़ा जाते हैं और अपने मार्ग से हट जाते हैं। जिनमें कुछ कायरता रहती है वह किस कारण से रहती है? परिग्रह की लालसा है इस कारण कायर बनना पड़ता है। जो पुरुष परिग्रह से दूर हैं, परिग्रह की लालसा ही नहीं रखते वे तो स्वतंत्र हैं। वे एक प्रकार से प्रभु हैं, समर्थ हैं। जो जितनी भी अधीरताएँ हैं वे सब परिग्रह के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। जब कुछ न हो पास, कहीं हो तो कहाँ अच्छी नींद आती है और पास में कुछ धन हो और कहीं सो जाय तो उसे नींद

नहीं आती। कहीं कोई चोर न आ जाय, कोई छुड़ा न ले, यों चिन्तित रहता है। लोग एक कहावत में कहते हैं- गाय न बच्छी, नींद आय अच्छी। यहाँ गाय बच्छी से मतलब परिग्रह से है। कुछ भी परिग्रह नहीं है तो वह सुख से सोता है और जहाँ परिग्रह है वहाँ सारे आराम दूर हो जाते हैं। किसी भी इन्द्रियविषय का शौक लग जाय तो सारा जीवन बरबादी की ओर चलने लगता है। यह विषय, यह परिग्रह जीव का महान बैरी है। बाह्य पदार्थों की बात नहीं कह रहे, वे तो जहाँ के तहाँ पड़े हैं, किन्तु बाह्यपरिग्रहों में जो मूर्छा का परिणाम जगता है, अन्तः मोहभाव बनता है ऐसा विकार इसे निज आत्मप्रदेशों में स्थित नहीं होने देता है। इस जीव को परेशान करने वाली तृष्णा है। जीवन बना है प्रभुभक्ति के लिए, धर्मपालन के लिए, न कि जड़ वैभवों को बढ़ाने के लिए। ऐसा लक्ष्य नहीं बना पाते मोही लोग। यदि यह लक्ष्य बन जाय, यह बुद्धि जग जाय तो फिर इतनी तृष्णा में यह नहीं पड़ सकता। एक अपना गुजारा भर करना है सो उदयानुसार जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही सन्तोष रखकर अपने ज्ञान, ध्यान, तपश्चरण, संयम इनमें अपनी प्रीति जगायें और इस दुर्लभ नरजीवन को सफल बना लें। ऐसी बुद्धि मोही जीवों को नहीं जग पाती है। परिग्रह का सम्बन्ध होते ही और और भी बाधाएँ हो जाती हैं। यह परिग्रह इस जीव को बहुत हैरान करता है, मोह की ग्रन्थि को बहुत दृढ़ करता है और इसी कारण यह मोही जीव ऐसा कायर बन जाता है कि जीव को फिर किसी भी परिग्रह के, उपसर्ग के सहने की धीरता नहीं रहती। और कायर बनकर इस धर्म के पथ से हट जाता है, और अपने आपको संक्लेश में डालकर दुःखी बनाता रहता है। ऐसा यथार्थतत्त्व समझें और परिग्रह से मूर्छा का परिणाम हटा लें, अपने को निष्परिग्रह केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव करना चाहिए। इस आत्मानुभव से ही इस जीव का उद्धार सम्भव है।

श्लोक- 836

सर्वसंगपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे।

यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः॥

सर्वपरिग्रहत्याग में ही परमार्थ संयतपना- श्रीमत् जिनेन्द्र भगवान के परम आगम में समस्त परिग्रहों के त्याग को ही महाव्रत कहा है। जो कोई इससे अन्यथा कहता है वह अधम है और अपना और पर का घात करने वाला है। साधुता परिग्रह के त्याग में ही होती है और परिग्रहों में बाह्यपरिग्रह तो एक जितने भी अन्य पदार्थ हैं, शरीर तो एक छोड़ा नहीं जा सकता, इसके

अतिरिक्त जितनी भी चीजें हैं वे सब बाह्यपरिग्रह हैं। जिन पदार्थों में मूर्छा जग सकती है वे सब पदार्थ परिग्रह हैं, एक पिछी, कमण्डल और एक आध शास्त्र ये शास्त्र के परिग्रह नहीं बताया है, क्योंकि ये तीन उपकरण ऐसे हैं कि इनके बारे में मूर्छा भी जग सकती है। ये एक गुजारे के उपकरण हैं, धर्माचरण के उपकरण हैं। शास्त्र से स्वाध्याय करते, कमण्डल से कायशुद्धि करते और पिछी से जीवरक्षा करते। यदि कोई कमण्डल को खूब रंग बिरंगा सजाकर रखे, उसको निरखकर खुश हो, पिछी को बहुत से पंखों से खूब सुहावनी बनाकर रखे, शास्त्र को दिल बहलावा की दृष्टिकोण से खूब सजाकर रखे तो ये भी साधु के परिग्रह हो जाते हैं, अन्यथा ये परिग्रह नहीं बताए गए हैं। जितने भी बाह्य परिग्रह हैं उन परिग्रहों का जिनके त्याग है सो समझिये कि ये साधु हैं। किसी भी साधु को निरखकर झट यह समझ जाये कि वास्तव में यह साधु है या नहीं तो यह देख लीजिए कि यह बाह्य में क्या क्या चीजें रखा करता है? बहुत सी सवारियां हो, हाथी हो, घोड़ा हो, मोटर हो, और और भी अनेक प्रकार के सामान हों, और उनके पीछे अनेक प्रकार के विकल्प रखता हो तो समझ लीजिए कि उसे साधु नहीं कह सकते। अथवा शरीर का श्रृंगार करने के लिए अनेक बाह्य पदार्थ इकट्ठे किये हों, जुटाये रखे हों, श्रृंगार बनाने के लिए बहुत सी मालायें पहिनें हों, और और प्रकार के झांझ मजीरा चिपटा त्रिशूल, डमरू आदि रखे हों, शरीर को भस्म आदिक से रमाये हों, ऐसी जिनकी बाह्य पदार्थों में दृष्टि हो, प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि वह साधुता नहीं है। अपने आराम के लिए पैरों में जूता पहिने हों, खड़ाऊ लिए हो आदिक कुछ भी बाह्य परिग्रह साथ रखते हों तो वहाँ साधुता नहीं है। परिग्रह त्याग ही महान व्रत कहा गया है। कोई लोग इससे विपरीत कहते हैं। जैसे इतने कपड़े रख लिया तो वह साधु हो जायेगा। इतने बर्तन रख लिया और उन्हें उपकरण मान लिया कि ये भी सब उपकरण हैं तो वस्त्र, बर्तन या अन्य कुछ भी किसी को उपकरण मानकर कोई रखे तो वहाँ साधुता नहीं है, ऐसा कहने वाले अपना भी घात करते हैं और दूसरे प्राणियों का भी अकल्याण करते हैं। खुद तो अन्यथा श्रद्धा किया। बाह्य पदार्थों में अपना विकल्प बनाया, अपने को उलझाया इस कारण से वे अपने घातक हुए और ऐसा उपदेश करके दूसरे लोगों को भी शिथिल बनाया, मोक्षमार्ग से भ्रष्ट बनाया तो यों पर के घात करने वाले हुए। परिग्रह त्याग ही साधुओं का महान व्रत है।

श्लोक- 837

यमप्रशमजं राज्यं तपःश्रुतपरिग्रहं।

योगिनीऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः॥

धनपिशाच पीड़ित योगियों की यमप्रशमज राज्य से वञ्चितता- जो पुरुष धनरूपी पिशाच से पीड़ित है ऐसा योगी मुनि भी यम नियम प्रशम तपश्चरण शास्त्रस्वाध्याय इन सबको छोड़ देता है। जब मन परपदार्थों में आसक्त रहता है तो यह उपयोग यह धुन उस परपदार्थ के लिए ही रहेगी और ऐसे विकृत मन के होने पर वहाँ यम भी लिया हो, कोई प्रतिक्रम भी किया हो तो उसे भी छोड़ देता है क्योंकि चित्त परपदार्थों में व्यथित हो गया। अब वह परपदार्थों का संग्रह करने में ही अपना हित समझता है। जिसकी जिस ओर रुचि लग गयी वह उस ओर ही अपना हित समझता है। तो यह एक बड़ा संकट है जो परपदार्थों में मन लग जाय, स्नेह जग जाय। क्योंकि उससे अशान्ति ही अशान्ति है। शान्तस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व की वहाँ दृष्टि नहीं है और ऐसी बाहर पड़ी हुई दृष्टि वाले पुरुष विह्वल रहा करते हैं क्योंकि अपने उपयोग को कहीं स्थिरता से जमाने का झुकाव तो नहीं मिल रहा, तो ऐसे पुरुष आजीवन लिए हुए नियम को छोड़ देते हैं, और जो कुछ समय के लिए नियम लेते हैं वे भी छोड़ देते हैं। जिन योगीश्वरों ने कदाचित् कर्मप्रेरणावश अपनी शिथिलता से कोई किसी बाह्यपरिग्रह की आशा लग जाय और उस आशा से पीड़ित हो जाय तो वह प्रशम अर्थ का भी परित्याग कर देता है अर्थात् शान्ति को दूर कर देता है। आत्मीय सत्य आनन्द की प्रीति नहीं रहती। प्रतीति में केवल बाह्यपदार्थ ही बस गए ऐसे पुरुष तपश्चरण को भी छोड़ देते हैं। तपश्चरण में उनको बड़ा कष्ट मालूम होता है। जो किसी भी विषय पिशाच से पीड़ित हो गए हों या बाह्य धन वैभव की इच्छा करने लगे हों उन्हें तपश्चरण क्या सुहायेगा, शास्त्रस्वाध्याय को भी छोड़ देते हैं। जिनके बाह्यपदार्थों में आसक्ति हो गयी उनके फिर ज्ञानवार्ता में मन नहीं लग सकता। जो पुरुष अपने को निष्परिग्रह रखते हैं, अपने को निःसंग अनुभव करते हैं मेरा कहीं कुछ नहीं है, केवल यह गुणपर्याय ही मेरा है, मेरे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शान्ति, आनन्द, ये सब मेरे तत्त्व हैं, मेरा जो विशुद्ध परिणमन है वही मेरा वैभव है, मेरे गुणपर्याय के सिवाय अन्य कुछ भी चीज मेरी नहीं है। ऐसा जिनका अनुभव है वे योगीश्वर अपने आपमें विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं। इसके विरुद्ध जिनको धन की कोई आशा लग गयी, उस पिशाच से जो पीड़ित हो गए वे आजीवन ग्रहण किए हुए नियम को भी छोड़ देते हैं, और अवधि लेकर ग्रहण किए हुए नियम को भी छोड़ देते हैं, श्रद्धा, शान्ति, तपश्चरण, स्वाध्याय सबका त्याग कर देते हैं। यह परिग्रह ही अनर्थ का मूल है। जो परिग्रह से दूर रहेंगे वे ही पुरुष आत्मध्यान के पात्र बनेंगे और आत्मध्यान करके एक अपने आपमें अपने उपयोग को मग्न करके मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे।

श्लोक- 838

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः॥

धनसंग्रह से सिद्धिविघात- धन का संग्रह पुरुषों की सिद्धि में विघ्न करता है। आत्मा अतुल सत्य का भण्डार है। जितने लोक में सातिशय चमत्कार कहे जाते हैं, ज्ञान का चमत्कार, विशाल ज्ञान हो और लूकी छुपी भूत भविष्य की बातों को भी बता सके ऐसा ज्ञान हो, ऐसा ज्ञान का चमत्कार भी इस ही आत्मा के भण्डार से उत्पन्न होता है। लोक में ऐसा आतिशयभूत चमत्कार देखकर लोग आश्चर्य करें, जिनकी देव सहायता करें, ऐसे चमत्कार भी इस आत्मा के ही ध्यान का फल है। जो एक आत्मतत्त्व को छोड़कर बाह्य वैभव के संग्रह की आकांक्षा करते हैं उनके समस्त मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति नहीं होती और एक इस सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूप की जो उपासना करते हैं उनको समस्त कार्यसमूह की मनोवाञ्छित की सिद्धि होती है, उनमें ऐसी सिद्धि प्रकट हो जाती है कि जो भी चाहते हैं उसकी सिद्धि अनायास प्रकट हो जाती है। और, जिसे जो कुछ मिला है वैभव सम्पदा वह सब भी इस आत्मसिद्धि के भण्डार से ही मिला है। उसे यों समझिये कि जिस पुरुष के कुछ निर्मलता रहती है, दान की, परोपकार की जिसकी भावना बनी रहती है, दूसरे जीव सुखी हों ऐसी जिसकी निरन्तर भावना रहती है, जिसकी कषाय मंद हैं, विषय भोगों में जिसकी उत्सुकता नहीं है ऐसे धर्म परिणाम में जो पुरुष रहता है उसके पुण्यबंध होता है, उसका ही परिणाम है कि लाखों की विभूति उसके पास है। यह बाह्य जड़ विभूति भी इस आत्मभण्डार से ही प्राप्त होती है। इस आत्मपरिणाम की निर्मलता से पुण्यबंध होता है, उसके उदय से वैभव समृद्धि प्राप्त होती है तो इसका भी मूलकारण आत्मपरिणाम ही रहा। यदि आत्मपरिणाम को संभाल सके तो समस्त मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अगर न कर सके, केवल बाह्य धन की ओर ही आशा लगाये रहे तो समस्त सिद्धियाँ विघ्न उत्पन्न करती हैं। सब कुछ परिणामों पर निर्भर है। भगवान के गुणों में अनुराग जगने से जो भगवान का भक्त बनता है उसके विशिष्ट पुण्य का बंध होता है। और कोई धन की आशा रखकर, मुकदमा जीतने की आशा रखकर या अन्य-अन्य कुछ अधिकार प्राप्त कर लेने की आशा रखकर प्रभु पूजा करता है उसे पुण्य का बन्ध नहीं होता। वह तो भगवान में भी अवगुण ही निरख रहा है। भगवान मुझे धर्म का लाभ करा दें, पुत्रादिक का लाभ करा दें, मुकदमा

जीता दें, यह प्रभु में अवगुण देखना ही तो है। तो जो लोग ऐसी आशा लेकर प्रभु की भक्ति करते हैं उनके पुण्य का बन्ध नहीं होता। जो प्रभु के गुणों का अनुरागी है, उनके स्वरूप को निरखकर ऐसा ही मेरा स्वरूप है, यही मोक्षमार्ग है, यों जो केवल उस शुद्ध तत्त्व को निरखता है ऐसे गुणानुराग की दृष्टि से जो प्रभुपूजन करता है उसके पुण्य का बंध होता है। जो प्रभुभक्ति करके चाहे कुछ नहीं उसके ऐसा पुण्य बनता है कि उसे मनोवाञ्छित सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। तो बाह्यपदार्थों की चाह रखना यह समस्त सिद्धियों में विघ्न करती है।

श्लोक- 839

अत्यक्तसंगसन्तानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः।

बन्धन्नपि न जानाति स्वं धनैः कर्मबन्धनैः॥

परिग्रहवासनावासित पुरुष का अविदित धन कर्मबन्धन- जिसने परिग्रह की वासना नहीं छोड़ी है ऐसा पुरुष अपने को मुक्त करने के लिए उद्यम भी करता है परन्तु मुक्ति का काम रंच भी नहीं होता और परिग्रह के कारण अपने आपको कर्मों से दृढ़ बाँध लेता है, इस बात को नहीं जानता। कुछ भी आशा रखकर धर्म किया जाय तो वह जानबूझकर अपने को दृढ़ कर्मों से बाँधता है। हाँ कोई तपश्चरण और ज्ञान ऊँचा हो, परिणामों में निर्मलता विशेष हो और किसी समय थोड़ा सा परिणाम गिर जाय और कुछ चाह ले कि मैं अमुक स्वर्ग में देव हो जाऊँ तो वह बात हो तो जायगी, पर वह बात इस ढंग से हुई कि यदि वह न चाहता तो उससे भी कितना ही उच्च पद प्राप्त करता। पर मन चाहने से कुछ होता नहीं है। तो जिसने देवगति के सुख चाहा है उसने सांसारिक सुख ही तो चाहा, वैषयिक सुख ही तो चाहा। जैसे मनुष्यों के इन्द्रिय विषयों के सुख हुआ करते हैं वैसे ही वे भी सुख हैं। ऐसी उसकी चाह है तो वह पाप है। और, ऐसा पाप का परिणाम रखने वाला पुरुष चाहे कितना ही धर्म भक्ति करे उसके पुण्यकर्म नहीं रहा, पापकर्म ही विशेष बंधा। ऐसा तो कोई भी पुरुष होगा जो केवल पाप ही पाप बाँधता रहता हो, कभी पाप का बंध अधिक किया तो कभी पुण्य का बंध अधिक किया। ऐसा कोई भी मनुष्य न मिलेगा जिसने वीतराग होने से पहिले पुण्य ही पुण्य बाँधा हो, पाप जरा भी न बाँधा हो। चाहे साधु भी हो, पर उसने पहिले पुण्यकर्म बाँधा, और ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मों का बन्धन तो चल ही रहा है, वे सब पाप प्रकृतियाँ हैं। तो जो पुरुष परिग्रह की वासना रखे हुए है और अपने को मुक्त करने के लिए

कुछ धार्मिक श्रम कर रहा है तो वह यह नहीं जान रहा है कि मैं अन्तरंग में तो दूषित परिणाम रखे हुए हूँ, मुझे मुक्ति कहाँ से मिलेगी? मैं तो दृढ़ कर्मबन्धन को बाँध रहा हूँ। परिग्रह के लोलुपी पुरुष प्रायः अन्धे के समान होते हैं। सत्य बात उन्हें दिखती नहीं है। जो पुरुष विषयों से अंधा होता है, वह आँखों के अंधे पुरुष से भी अंधा है। आँखों का अंधा पुरुष तो मात्र आँखों से न देख पायेगा, पर उसका ज्ञान तो जागृत है, वह विवेक अविवेक की बात तो समझ सकता है। हित अहित की तो जानकारी है लेकिन जो विषयों से अंध पुरुष है उसका विवेक नष्ट हो जाता है। हित अहित का बोध नहीं रहता। तो जो विषयों का अंध है वह आँखों के अंध से भी अधिक अंधा है, ऐसे पुरुष को आत्मध्यान की कहाँ पात्रता हो सकती है?

परमार्थ स्वगृह में ही शरण्यता की प्राप्ति- शरण इस जीव को अपने आत्मा का ध्यान ही है। जैसे कोई पुरुष दूसरों के घर में जाया करे और लोग उसे मार भगाया करें तो कितने ही पर-घरों में वह चला जाय पर उसे कोई न रखेगा, कोई उससे न कहेगा कि ठहरो यह तुम्हारा ही तो घर है। वह तो जब अपने ही घर में पहुँचेगा तभी उसे विश्राम मिलेगा। पर-घर फिरते हुए कितना ही समय व्यतीत हो जाय पर वहाँ क्लेश ही क्लेश पायगा, निज घर में ही जब आयेगा अर्थात् जब निज ज्ञानानुभूति में आयगा तब ही उसे विश्राम मिल सकता है। जो पुरुष परिग्रह की वासना मन में रखे हैं, परिग्रह के लोलुपी हैं वे तो आँखों के अंधे से भी महान अंधे हैं। जिनके परिग्रह का त्याग है वे ही पुरुष साधु कहला सकते हैं। एक यह साधुता की निशानी है। केवल शरीर मात्र ही जिनका परिग्रह रह गया, जो कि छोड़ा नहीं जा सकता था। और तो सब परिग्रह छूट गए, पर इतनी उत्कृष्ट आत्मसाधना अभी नहीं कर पायी कि इस शरीर तक का भी परिग्रह त्याग दें। शरीर के परिग्रह का त्याग तो वह है कि फिर शरीर न धारण करना पड़े। अभी तो इतना विवेक जग रहा है कि हित अहित की बात समझ रहे हैं, वे इस शरीर का यों ही त्याग करना, अर्थात् आत्मघात करना पसंद नहीं करते। यद्यपि वे जानते हैं कि शरीर सब दुःखों की जड़ है और शरीर से ही इस आत्मा की बरबादी है, पर इस शरीर को व्यर्थ में मिटा देना अच्छा नहीं समझते। वे तो इस शरीर को सदा के लिए मिटाना चाहते हैं। यह शरीर मिटेगा रत्नत्रय के प्रताप से। सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिपूर्ण सिद्धि बने इस यत्न में रहते हैं योगीजन। उनके बाह्य धन परिग्रह का कुछ भी विकल्प नहीं जगता। तो जो परिग्रह की वासना से दूर हैं ऐसे पुरुष ही सही मायने में साधु हैं और वे ही पुरुष इस निःसंगता के कारण अपने आत्मतत्त्व का ध्यान करके अपने को मुक्त कर सकेंगे। जिन्हें अन्य पुरुष के परिग्रह की लालसा है वे तो चक्षु से अंधे पुरुष से भी महान अंधे हैं। यह तो साधु संतों की बात है पर गृहस्थों को भी जिनका निर्णय बना हुआ है कि परिग्रह तो साक्षात् दुःख की खान है, इसका संग अधिक करना तो अपने आपको झंझटों में फंसाना है। वे गृहस्थ भी

धन्य हैं जो अपना अधिक परिग्रह नहीं बढ़ा रहे हैं, थोड़ा बहुत जो भी पास में है उसी में गुजारा करते हैं।

मोह के श्रम में संकटों का स्वामित्व- लोग तो व्यर्थ में इन परिग्रहों के पीछे होड़ लगा रहे हैं, उसमें यही बात पड़ी है कि वे लोग यह चाहते हैं कि मैं कुछ अच्छा धनिक पुरुष कहलाऊँ। लेकिन सोचिये तो सही ऐसी आशा जैसी कि इन मलिन पुरुषों से रखी जा रही है यदि प्रभु से आशा रखी जाती तो उससे कुछ अपनी भलाई भी होती। जो पुरुष विषयकषायों से मलिन हैं, कर्मों के प्रेरे हैं, पापी हैं, अधम हैं, संसार में रुलने वाले हैं ऐसे लोगों से आशा रख रहे हैं कि ये लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें यह कितनी बड़ी भूल है? यदि यह आशा रखते कि मैं भगवंतों के ज्ञान में अच्छा जंच जाऊँ, ऐसी आशा रखते तो भला था। इस मलिन मायामयी मनुष्य समूह से अपने आपकी बड़ाई की इच्छा रखना वह तो संसार में पतन करने वाली वासना है। किसलिए धनसंचय की होड़ लगायी जाय? अरे पुण्योदय से जो प्राप्त हो उसी में विभाजन करके सहर्ष जीवन बितायें। धन वैभव की आशा रखने से, तृष्णा रखने से अनेक नुकसान हैं, एक तो नुकसान यह है कि वर्तमान में जो मौजूद धन है उसको भी आराम से नहीं भोग सकते हैं। और फिर दूसरों का धन ले लेना यही तो धन संचय का अर्थ है। जो दूसरे के पास है वह मेरे पास आ जाय, इसमें तो दूसरे को सताने का भाव भरा हुआ है और फिर वह अपने अधीन नहीं है। जो आना होता है सो ही आता है ये जो अनेक विह्वलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं वे ज्ञान की कमी के कारण हो जाती हैं। अरे किसी तरह से जीवन तो बीता ही जा रहा है। खूब धर्मपालन कर लें, ज्ञानार्जन कर लें, और उस ज्ञानभावना से हम अपने आपको विशुद्ध निर्मल बना लें। ऐसा जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इस ही लक्ष्य से आत्मा का कल्याण है। धनसंग्रह की भावना समस्त अनर्थों का मूल है। यों परिग्रह से विरक्त रहता हुआ गृहस्थ गृहस्थी में रह रहा है- तो वह मोक्षमार्ग में चल रहा है, उसका भविष्य उज्ज्वल है।

श्लोक- 840

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥

परिग्रहसंकीर्ण मुनि के संवृतेन्द्रियता का अभाव- मुनि भी हो और यदि परिग्रह से संकीर्ण हो, कुछ परिग्रह का लेप हो तो वह भी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है। चाहे कभी सूर्य भी अपना प्रकाश छोड़ दे, और सुमेरुपर्वत भी अपनी स्थिरता छोड़ दे, चाहे यह सम्भव हो जाय परन्तु परिग्रहसहित मुनि कदापि इन्द्रियनिरोध करने वाला नहीं हो सकता। ऐसा यद्यपि सम्भव तो नहीं है कि सूर्य कभी अपना प्रकाश छोड़ दे, जैसे यहाँ की पृथ्वियाँ हैं और और पदार्थ हैं वे प्रकाशहीन हैं इस तरह सूर्य भी कभी प्रकाशहीन हो जाय, यह तो न हो सकेगा, और सुमेरुपर्वत अनादिनिधन है, ज्यों का त्यों रहता है वह वहाँ से हट नहीं सकता, घट बढ़ नहीं सकता, नष्ट भ्रष्ट नहीं हो सकता किन्तु आचार्यदेव सम्भावना अलंकार में कह रहे हैं कि चाहे यह असम्भव बात भी सम्भव हो जाय पर परिग्रहसहित मुनि इन्द्रिय का सम्वरण नहीं कर सकता। और जो इन्द्रियविषयाधीन है उस पुरुष के चित्त की स्थिरता नहीं बन सकती, और जब तक चित्त की स्थिरता नहीं होती तब तक आत्मा का ध्यान नहीं होता। कोई कोई लोग कभी शंका करते हैं कि हम पूजा में बैठते हैं तो मन बीसों जगह जाता है उसका कारण क्या है? कारण यही है कि जब किसी एक पदार्थ में हम प्रयोगात्मक उपयोग नहीं दे रहे और बैठे भगवान का नाम भजन करने के लिए तो उस समय चूँकि तत्त्व में तो मन नहीं लग रहा, अतएव तत्त्व में चित्त नहीं है और बाह्यपदार्थों में, कामकाजों में हम अलग बैठे हैं ऐसी स्थिति में यह चित्त उन सब जगह जायगा जहाँ अपने में संस्कार बसा हुआ हो। चित्त बाहर न जाय, अपने आत्मा में मग्न हो जाय उसके लिए विषयों को विजय करना होगा। इन्द्रियविषयों में उपयोग न लगे और कषायों में भी चित्त न जाय ऐसी स्थिति करनी होगी। यह बात बन सकेगी परिग्रह के त्याग से। जिस गृहस्थ को जितना भी परिग्रह लगा है, लाख वाला लाख जैसी चिन्ता उद्वेग रखता है, करोड़ वाला करोड़ जैसी चिन्ता उद्वेग रखता है। इस परिग्रह का सम्बन्ध ही चित्त की व्यग्रता को उत्पन्न कर देता है। राजा महाराजा लोग इतने व्यग्र हो जाते कि उन्हें रात्रि को निद्रा भी नहीं आती और एक गरीब जो चार आने आठ आने रोज कमा पाता है और उसमें ही गुजारा करके सन्तुष्ट रहता है, तो खूब अच्छी नींद से सोया करता है। जिसे जितना वैभव मिला है उसकी उतनी अधिक तृष्णा बढ़ती है और जब किसी भी बात की तृष्णा रहती है तो चित्त उद्विग्न रहता है। चाहे धन की चिन्ता हो, किसी भी प्रकार की चिन्ता हो इस जीव को विह्वल बना देती है। जिसके साथ परिग्रह लगा है वह ध्यान करने का पात्र नहीं बन सकता ऐसा यहाँ कह रहे हैं। इन्द्रियविषयों का विजयी भी नहीं बन सकता। जिन्हें आत्मध्यान की चाह हो उनका कर्तव्य है कि वे परिग्रह से पूर्ण प्रयत्न भर दूर रहें। लोक में आत्मध्यान ही एक मात्र जीव का शरण है बाहर में कहाँ दृष्टि दें? अपने को निष्परिग्रह बनाने का अधिकाधिक प्रयत्न करें। गृहस्थावस्था में यह परिग्रह दूर नहीं किया जा सकता है तो मान्यता तो सही बनायी जा सकती है। अणुमात्र भी मेरा कहीं कुछ नहीं

है ऐसी बात सत्य भी है और इस रूप ही अपना निर्णय बना लें तो इस निर्णय के कारण गृहस्थी में ही यथा सम्भव आनन्द रह सकता है।

श्लोक- 841

बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।

स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति॥

बाह्यपरिग्रह के त्याग में भी कातर रहने वाले के निवृत्ति की असंभवता- जो पुरुष बाह्यपरिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ है, कायर है वह आगे कर्मों की सेना को कैसे हटेगा? इस जीव पर कर्म छाये हुए हैं यह बहुत बड़े संकट की बात है। कर्मसेना को दूर करने का बहुत बड़ा काम इस जीव को पड़ा है क्योंकि यह कर्म बैरी यदि जीव के साथ रहेगा तो भव-भव में जन्म मरण कराकर सुख-दुःख भोगकर इस जीव को बरबाद ही करता रहता है। बहुत बड़ा काम पड़ा है कर्मसेना को जीतने का। पूजा में प्रारम्भ से अन्त तक यही तो पढ़ते हैं कि मेरे समस्त भावकर्म एवं द्रव्यकर्म नष्ट हो जायें, मेरे जन्म जरा मरण दूर हों, संसार का संताप दूर हो, अक्षय अविनाशी पद की प्राप्ति हो, समस्त विकार मेरे दूर हों, अष्टकर्मों का विध्वंस हो, मोहांधकार का विनाश हो, ये ही सब भावनाएँ तो हम प्रभुपूजा में करते हैं और इन्हीं भावों को बनाने के लिए द्रव्य का सहारा लेते हैं। तो यह काम सबसे बड़ा करने का है। लोक में इज्जत चाहने, गृहव्यवस्था बनाने आदि के काम तो आवश्यक काम नहीं हैं। यह सब तो मायाजाल है। यहाँ जीव को करने का सबसे बड़ा काम है कर्मरूपी सेना को परास्त कर देना, कर्म का विनाश कर देना, इतने बड़े काम को करने के लिए यदि समस्त बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्याग कर दिया जाय तो वह कोई बड़ी बात कर ली क्या? इतना तो करना ही होगा। जो बाह्यपरिग्रहों का भी त्याग नहीं कर सकते वे कर्मबैरियों को आगे जीतेंगे ही क्या? तो इन परिग्रहों के त्याग करने से भी बढ़कर कर्मबैरियों को जीतने का एक उत्कृष्ट काम पड़ा हुआ है, साथ ही अपने को अहंकाररहित एकाकी चैतन्यमात्र अनुभव करना आदिक बड़े बड़े काम करने को पड़े हैं। बाह्यपरिग्रहों का त्याग कर देना इन सब कामों के मुकाबले बहुत सीधा और छोटा काम है। बाह्यपरिग्रहों का जो जीव त्याग न कर सके वह तो कायर है।

अध्यात्मक्षेत्र में मुक्ति के मार्ग में वह कायर मनुष्य फिर कर्म की सेना को कैसे दूर कर सकता है? मुक्ति के कर्तव्य के लिए सबसे प्रथम और सीधा मामूली सा यह काम है कि सर्वपरिग्रहों का त्याग कर दे। जो जीव मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं वे शुक्लध्यान प्रकट करें, जिसमें रागद्वेष की कड़िका भी न हो ऐसा पवित्र उत्तम ध्यान बनायें और उससे पहिले उत्तम धर्मध्यान बनायें, कषायों को जीतें, विषयों के विकल्पों से हटें, इतने विशाल काम करने को पड़े हैं। कोई मुनि बाह्यपरिग्रह का भी त्याग सही ढंग से न कर सके तो फिर आगे के बड़े कार्यों को करेगा ही क्या? अपने को सहज शुद्ध ज्ञानानंदस्वभावमात्र निर्मल अनुभव किए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, और ऐसा ध्यान बनाने के लिए अपने को निःसंग अनुभव करना होगा। मैं तो मात्र मैं ही हूँ, अन्यरूप नहीं हूँ, मेरा अन्य कुछ नहीं है। मेरा स्वरूप मेरा स्वभाव सर्वस्व है, ऐसा अनुभव करने के लिए सर्वपरिग्रह का त्याग करना आवश्यक है।

श्लोक- 842

स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनं।
क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम्॥

धन की कामसर्पवल्मीकसदृशता- विद्वान पुरुषों ने धन को कामरूपी सर्प की बामी बताया है। जैसे बामी सर्प के रहने का घर है। बामी में बड़ी निर्भयता से सर्प रहता है, ऐसे ही यह धन कामविकार का घर है। किनके लिए धन जोड़ा जा रहा है? कुछ तो उद्देश्य होगा। मैं धन को जोड़ूँ और फिर खूब दान करूँ, ऐसा जिनके भाव है वे दान का सही स्वरूप नहीं समझेंगे। वह तो एक यश जैसी प्राप्त करने की बात है। धनसंचय करने का अभिप्राय विषय साधन है। यों कोई थोड़ा समझदार हो तो मन के विषय का साधन है। मन का विषय है यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, नामवरी आदिक। और, प्रायः करके बहुतायत से मनुष्य जो धनसंचय करता है उसका प्रयोजन केवल कामसाधना, मौज मानना विषयों का साधन ही उसके धन संचय करने का उद्देश्य है। जब यह बात बिल्कुल सही बैठ गई कि जैसे सर्प के रहने का घर बामी होती है इसी प्रकार काम आदिक विकारों के बसने का घर धन होता है। एक लौकिक कथा में बताया है कि एक संन्यासी नाम का व्यक्ति एक नगर में रहता था, वह सत्तू मांगकर लाता था और सत्तू की पोटली खूंट्टी पर टाँग देता था, किन्तु उस झोंपड़ी में एक ऐसा बलवान चूहा रहता था कि वह उछलकर उसी पोटली पर पहुँच

जाता और मनमाना सत्तू खाता था। संन्यासी रोज बड़ा हैरान रहता। वह नहीं समझ पाता कि मेरे सत्तू रोज रोज कौन बिगाड़ जाता। एक दिन तक कर देखा तो वही चूहा आते हुए दिख गया। समझ गया कि यह चूहा ही रोज रोज हमारे सत्तू बिगाड़ जाता है। सो उसने उस चूहा के घर को ही उजाड़ देने की सोचा। आखिर जब वह उस चूहे के गड्ढे को खोदकर बहाने लगा तो उसमें बड़ा धन मिला। वह धन चूहा किसी से ले आया था। उस धन के ही कारण वह चूहा अपने को सुखी मानता था और खूब तगड़ा हो रहा था। जब मन प्रसन्न होता है तो स्वास्थ्य अच्छा बनता है। हालांकि उस चूहे के काम वह धन नहीं आता पर धन तो सभी को प्रिय है ना। इन बच्चे लोगों को भी धन बड़ा प्रिय है, तो उस धन को उस संन्यासी ने बटोर लिया। जब चूहे को वह धन न मिला तो बड़ा चिन्तातुर हो गया, यहाँ तक कि उसका खाना पीना तक छूट गया। इतना उसे क्लेश पहुँचा। कुछ ही दिनों में वह अत्यन्त दुर्बल हो गया। तो यह धन नाना विषयों का साधन होता है। नाना कामविकारों का घर यह धन है। जब बहुत धन जुड़ जाता है तो राजा महाराजा लोग एक क्या सैकड़ों स्त्रियाँ रख लेते हैं। और, ऐसी ऐसी अनेक कहानियाँ भी मिलती हैं। तो यह धन कामादिक विकारों का घर है, जैसे सर्प का घर बामी है।

धन की अविद्याक्रीडास्पदता तथा रागाद्यरिनिकेतनता- यह धन रागादिक शत्रुओं के रहने का घर है। जैसे कोई लापरवाह पुरुष अपने आपके घर में शत्रु को आराम से रहने दे तो उसे कोई विवेकी न कहेगा। इसी तरह यह मलिन आत्मा भी रागादिक भावों को रहने के लिए अपना घर दिए हुए है। अर्थात् आत्मप्रदेशों में ही ये रागादिक बस रहे हैं, यह आत्मा इसलिए मूढ़ कहलाता है, मोही है, अज्ञानी है और उन रागादिक के रहने के लिए वे सुविधा पूर्वक रह सके उसका साधन है धन। अतएव रागादिक दृश्यों के रहने का यह घर है धन और अविद्या की क्रीड़ा करने का स्थान है। जैसे कोई पार्क होता है, सभी लोग खेला करते हैं ऐसे ही यह धन भी अविद्या का अज्ञानता का खूब जी भरकर खेलने का स्थान है। धन से अविद्या बढ़ती है। यों यह परिग्रह आत्मा के अनर्थ का कारण है ऐसा जानकर साधु संतजन जिन्हें आत्मतत्त्व की उपासना की तीव्र उत्सुकता जगती है जिस कर्तव्य के सामने अन्य सब सांसारिक कार्य झंझट मालूम होते हैं ऐसे एक अंतस्तत्त्व के अनुभव के रुचिया साधुसंत पुरुषों को यह परिग्रह रंच भी नहीं रुचता। वे तो अपने को निष्परिग्रह रखते हैं, बाह्यपरिग्रहों का त्याग कर देते हैं और अपने अन्तरङ्ग में भी विषयकषायों के भाव को नहीं आने देते। यों विद्वान पुरुषों ने इस धन वैभव को कामरूपी सर्प की बामी कहा है। रागादिक दुश्मनों के रहने का ठौर बताया है और अविद्या क्रीड़ा करने का स्थान बताया है। अर्थात् इस धन के कारण बड़े बड़े अनर्थ होते हैं, इस धन वैभव को त्यागकर साधुजन निजपरमात्मतत्त्व की निरन्तर उपासना ही किया करते हैं।

श्लोक- 843

अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि।
जगत्यस्मिन् जनः क्षिप्रं दोषलक्षैः कलङ्कयते।।

धनपङ्क में निमग्न गुणी पुरुष के भी कलङ्कितता- इस धन रूपी कीचड़ में फंस हुए बड़े गुणवान पुरुष भी दोषों से कलंकित हो जाते हैं अर्थात् थोड़े भी धन से कालिमा लग जाती है। इस धन के कारण लोग कितनी ही शंकायें कर डालते हैं। किसी का बैंक में रुपया जमा है तो वह सोचता है कि कहीं ऐसा न हो कि धन न मिले। धन के कारण आसपास ठहरे हुए लोगों के प्रति भी बड़ी बड़ी शंकायें हो जाती है। अपने गुरु के प्रति, माता पिता के प्रति, भाई बहिन के प्रति इस धन के कारण न जाने कैसी कैसी शंकाएँ हो जाती हैं? कहीं यह मेरा धन रख न ले, चुरा न ले, यों अनेक शंकायें हो जाती हैं। अरे भला बतावो माता पिता उस धन को रखकर करेंगे क्या? कहाँ धन ले जायेंगे, उनके तो जीवन के अन्तिम दिन निकट हैं पर उनके प्रति भी लोग शंकायें कर डालते हैं। हाँ यदि कोई पुत्र कुपूत हो, अपने माँ बाप को दुःख देता हो तो भले ही माँ बाप ऐसा सोचें कि यह सारा धन अपने ही पास दबाकर रखो, इस पुत्र को न दो, नहीं तो शीघ्र ही गंवा देगा। यह तो ठीक है, पर माँ बाप के प्रति भी लोगों की जो दूषित भावनाएँ बनती हैं उन सबका कारण यह धन है। यदि धन समीप है तो लोग माँ बाप पर भी अजीब शंकाएँ कर डालते हैं। और, एक ही बात क्या, थोड़ा भी धन का सम्बन्ध बने तो लाखों ऐब उसमें आ जाते हैं। किसी दूसरे को अपने समान न निरखना, दूसरों को लघु समझना, खुद में अभिमान आ जाना ये सारे ऐब धन के सम्बन्ध से आ जाते हैं। तो भला यह बतलावो कि धन का सम्बन्ध रहते हुए कोई साधु मुक्ति के मार्ग में चल सके, यह बात कैसे हो सकती है? साधु संतों के इस कर्तव्य को आचार्यदेव समझा रहे हैं, थोड़ासा भी धनरूपी कीचड़ हो, उसमें फंसा हुआ मुनि इस जगत के तत्काल दोषों से कलंकित हो जाता है, अतएव उनका लोभ न रखें और एक विशुद्ध आत्मस्वरूप की उपासना में लगें।

श्लोक- 844

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशङ्कयते।

धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते।।

धनरक्षाभिलाषी धनिकों के गुरुजनों पर भी शंका का भाव- धनाड्य पुरुष ऐसे पुरुषों पर भी शंका करने लगते हैं जो गुरु समस्त परिग्रहों के त्यागी हैं, जिनका केवल अपने ज्ञान ध्यान से प्रयोजन है, लेकिन वे गुरु भी निकट हों किसी धन वाले के पास तो वे धनाड्य पुरुष ऐसे गुरुवों पर भी शंका कर सकते हैं। हम जा रहे हैं सामान छोड़कर जंगल दिशा, कहीं हमारी अमुक चीज साधु ले न लें, ऐसी अटपट शंकाएँ भी लोग कर डालते हैं। धनाड्य पुरुष धन की रक्षा के लिए रात्रि को सोते भी नहीं हैं, कोई मेरा धन ले न जाय ऐसी शंका उनके निरन्तर बनी रही है। किसी एक सेठ को किसी चोर ने अपने घर में स्वागत से बैठाल रखा था, उस सेठ के अंगुली में एक अंगूठी थी, उस अंगूठी में एक कीमती हीरा जड़ा हुआ था। वह चोर उस अंगूठी का हीरा किसी प्रकार निकालना चाहता था। लेकिन वह सेठ भी बड़ा चतुर था। जब रात्रि को सोने चले तो उस चोर की पोटली में अपनी अंगूठी छिपाकर रख दे। रात्रि को वह सेठ खूब सोये। वह चोर सेठ के सारे कपड़े छान डाले पर कहीं वह अंगूठी न दिखे। यों कई दिन बीत गए। अन्त में सेठ से कहा चोर ने कि सेठ जी अब हम तुम्हारा कुछ न करेंगे, सिर्फ एक बात बता दो कि यह क्या बात है कि तुम्हारी अंगुली में पड़ी हुई अंगूठी रात्रि में तुम्हारे पास नहीं रहती और सबेरा होते ही तुम्हारे हाथ में अंगूठी दिखती है। इसमें क्या रहस्य है? तो सेठ ने बताया कि इस अंगूठी को हम सोते समय तुम्हारी अमुक पोटली में रख देते थे। तुम अपनी पोटली में तो देखते न थे, वह रक्षित रखी रहा करती थी, हम चैन से सोते रहते थे और सबेरा होते ही झट पहिन लेते थे। तो यह धन जब तक निकट रहता है तब तक नींद नहीं आती, अनेक शंकायें बनी रहती हैं, तो इस परिग्रह के रहते हुए धर्मध्यान सम्भव नहीं है। अतः धर्मध्यान करने वाले को परिग्रह से पूर्ण रहित होना चाहिए।

श्लोक- 845

सुतस्वजनभुपालदुष्टचौरारिविड्वरात्।

बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं।।

धनियों के सर्वत्र शंका का संताप- जिसके परिग्रह लगा हुआ है, धन वैभव अधिक है उसमें मूर्छा भी है ऐसा पुरुष पुत्रादिक सभी प्रकार के लोगों से शंकित रहा करता है। धनिकों को अपने

पुत्रों से भी शंका रहती है। कदाचित् यह तृष्णावश बहुत सा वैभव जोड़ ले या कब्जे में कर ले तो फिर न उतना बड़प्पन रहेगा और न जीवन सुख से व्यतीत होगा, ऐसा जो संदेह रहता है, पुत्र से शंकित रहता है वह धन वैभव के कारण ही तो रहता है। यहाँ परिग्रह का प्रभाव बतला रहे हैं कि परिग्रह से कितने अनर्थ होते हैं। कोई पुरुष यदि अपने आपके विशुद्ध आत्मस्वरूप का निर्णय कर ले कि मैं तो इस देह से भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूँ तो उसे किसी भी परिस्थिति में विघ्न नहीं आ सकता। जो लोग विकृत रहा करते हैं वह सब उनके अज्ञान का फल है। परिस्थिति क्या चीज है? बड़ी बड़ी परिस्थितियों में यह जीव अपना गुजारा कर लेता है, कीड़ा, मकोड़ा, पशुपक्षी ये भी तो जीव हैं, उनका भी गुजारा चलता है। कुत्ता, बिल्ली आदिक का कोई स्वामी तो नहीं लेकिन वे भी अपना गुजारा कर लेते हैं। मनुष्यों में भी जो गरीब हैं दरिद्र है वे भी येन केन प्रकारेण अपना गुजारा करते हैं। तो गुजारे की चिन्ता उतनी नहीं है मनुष्य को जितनी अपनी लोकप्रतिष्ठा और बड़प्पन की चिन्ता है। मेरा लोक में नाम हो, मैं वैभवशाली कहलाऊँ और यह पता नहीं कि इस समय भी यह वैभव से जुदा है और मरण करके तो एकदम ही अलग हो जायगा। जहाँ धन वैभव का अधिक सम्बन्ध है वहाँ लोगों के प्रति अधिक शंकायें बनी रहा करती हैं, भाई बहिन आदिक ये कहीं हमारा वैभव हड़प न लें, मैं निर्धन रहकर फिर इस लोक में कैसे जीवन बिताऊँगा ऐसी शंका किया करते हैं। राजा से धनिक लोग शंकित रहा ही करते हैं। एक तो टैक्स की भरमार है, और अपना बड़प्पन दिखाते हैं। अगर मालूम पड़ गया कि यह बहुत धनिक है, इसका कारोबार अच्छा है ऐसा विदित होने पर और अधिक टैक्स देना पड़ेगा, और वैसे ही जब राजा को जरूरत हो तो न भी टैक्स में न्याय बैठता हो तो भी जितना चाहे ले सकते हैं। सरकार को यदि किसी आपत्ति के समय किसी भी पब्लिक से जो भी जरूरत हो वह ले सकते हैं। कोई बड़ा मकान है, और और है, वहाँ किसी को ठहराना है या कुछ भी वैभव हो सब ले सकते हैं, तब शंका वाली ही बात तो रही। भले ही मौका नहीं रहा कि सरकार सब छुटा ले लेकिन कानून में तो है कि सरकार को कभी आपत्ति आये तो सब कुछ जिस चाहे का ले सकती है। तो धनिक लोग राजा से भी शंकित रहते हैं। दुष्टजनों की शंका हमेशा बनी रहती है। जो गुंडा लोग हैं, मरने मारने को तैयार रहते हैं ऐसे पुरुषों से धनिक को सदा शंका रहती है। कोई चोर हो गए, डाकू हो गए तो उनसे सदा शंका बनी रहती है। अभी ही पास के कांदला गाँव में एक धनिक के यहाँ डाका पड़ा तो डाकुवों ने घर के सभी लोगों को जख्मी कर डाला और जो कुछ भी धन था वह सब ले गए। अब सोचो उनका चित्त क्या कहता होगा? सच पूछो तो गरीब जन बहुत सुखी हैं पर नहीं ऐसा अनुभव करना चाहते। अपने से अधिक की ओर दृष्टि रहने से अन्तर में साता का परिणाम नहीं रहता। इस धन वैभव के कारण

चोर, डाकू, बैरी इन सबसे शंका बनी रहती है। बैरी न जाने कब अपना बैर भजाये, ये सब शंकायें धन वैभव के कारण रहा करती हैं।

धनिकों के स्वजनों में भी शंका- धन प्रसंग में स्त्री तक से भी शंका रहती है। बहुत सी कीमती चीजें स्त्री से भी छुपाकर रखते हैं धनिक लोग। एक तो यहाँ तक अविश्वास कर डालते हैं, आखिर वह स्त्री ले कहाँ जायेगी, लेकिन यह शंका हो जाती कि कदाचित् इसका चित्त पलट जाय और मुझसे विपरीत हो जाय, अन्य जगह इसका चित्त लग जाय तो किसी को भी यह वैभव दे सकती है, यों अनेक शंकायें हो जाती हैं। मित्र से भी शंका हो जाती है। भले ही वह मित्र विश्वासपात्र है लेकिन किसी भी समय इसका चित्त बदल सकता है और जितने लोग भी धोखा देते हैं वे विश्वासपात्र बनकर ही तो धोखा दे पाते हैं। आपका बड़ा विश्वासी कोई मैनेजर मुनीम बना है। आपके भले की ही बात वह सदा सोचा करता है, आपसे बड़ा अधिक प्रेम कर रहा है तो इतना अधिक प्रेम वह आपसे क्यों कर रहा है? यदि कोई सीमा से अधिक प्रेम करे तो उसमें भी यही समझ लेना चाहिए कि इसमें कोई हमारे धोखे की बात है। मित्रजन विश्वासपात्र बनकर ही तो धोखा दिया करते हैं। धन वैभव के कारण धनिक लोग इन सभी से शंकित रहा करते हैं। परिग्रह ऐसी चीज है, और जो शंका उत्पन्न करने वाली वस्तु है उसके रखते हुए आत्मा निःशल्य कैसे हो सकता है? आत्मध्यान के लिए अपना प्रयत्न वह कैसे कर सकता है? तो जो उत्तम शरणभूत तत्त्व है आत्मध्यान उसमें महाबाधा डालने वाला परिग्रह है, इस कारण विवेकी साधुजन समस्त परिग्रहों का त्याग करके आत्मध्यान में उपयोगी रहा करते हैं।

श्लोक- 846

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः।

तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः॥

धनाशा से मलिन होने का परिणाम- यह जीव धन वैभव की आशा रखकर मलिन बनकर जितने कर्म बाँधता है उन कर्मों की शान्ति करोड़ों जन्मों में बड़े कष्ट से हो पाती है। एक जन्म का बांधा हुआ कर्म अनेक जन्मों से बड़े क्लेश भोगने पर ही छूटता है। देखिये गलती है एक सेकण्ड भर की, कोई पाप का विचार आ गया अब उस सेकण्ड भर की गलती में जितने कर्म बंधे वे कर्म सैकड़ों जन्मों में क्लेश देकर छूटेंगे। और, अपराधों में मुख्य अपराध है परपदार्थों की आशा बनाये

रखना। वैभव की चिन्ता में जो आशा बन रही है उससे यह चित्त निज परमात्मस्वरूप से विमुख रहा करता है। जहाँ बाहर-बाहर ही यह उपयोग रहा तो वही तो पाप है। अपने को न समझना, परमात्मस्वरूप पर दृष्टि न रहना और बाह्यपदार्थों की ओर आकर्षण रहना यही तो पाप है, इसमें जो कर्म बंधते हैं वे अनेक जन्मों में बड़े-बड़े क्लेश भोगकर मुश्किल से छूटते हैं। जिस परिग्रह के लिए मोहीजन इतना व्यग्र रहा करते हैं यह भी मिले वह भी मिले, कभी उनकी तृष्णा का अन्त नहीं रहता उस परिग्रह का यह फल है। और, तृष्णा का अन्त तब तक नहीं हो सकता जब तक ज्ञान का अभ्युदय न हो। मैं केवलज्ञान मात्र हूँ, मेरा किसी अन्य पदार्थ में कुछ कर्तव्य नहीं है, किसी परपदार्थ की परिणति से मेरे में कुछ सुधार बिगाड़ नहीं। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। किसी पर की तृष्णा से मेरी महिमा नहीं, मेरा महत्त्व तो मेरे ज्ञान और आनन्द के विकास रहने में है। ऐसा निर्णय जब तक नहीं हो पाता तब तक परपदार्थों की आशा बनी रहा करती है। इन परपदार्थों की आशा बनी रहने से जो कर्मबन्ध होता है वे कर्मबन्ध भव-भव के दुःख के कारण बनते हैं। फिर देखा होगा उसमें जो कर्म बंध गया वह अनेक जन्मों के लिए बंध गया, इस तरह अज्ञानवश जीव में जन्ममरण की और उनके भोगने की परम्परा बनी रहती है। इन सब विपत्तियों का तांता जोड़ना हो तो केवल एक ही काम करें। निज को निज समझ लें। मैं मात्र ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ मेरा कर्तव्य इस ज्ञान का जो परिणमन है उतना ही मात्र है। मेरा भोग उपभोग मेरे ज्ञान में जो अनुभव बनता है उतना ही मात्र है। इससे बाहर किसी अन्य पदार्थ का न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। मैं सबसे न्यारा परमात्मस्वरूप हूँ ऐसा अपना अन्तःज्ञान बने तो ऐसा पापकर्म दूर हो और आत्मा का उद्धार हो।

श्लोक- 847

सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः।

धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णितां॥

निःसङ्गता और इन्द्रियविजयता के बल से ध्यानधुरा के धारण की क्षमता- जो पुरुष समस्त परिग्रहों से रहित हो और जिसने इन्द्रिय का सम्हाल कर लिया हो अर्थात् इन्द्रियविषयों में अपने मन को नहीं लगाया ऐसी जिसके स्थिरता जगी हो ऐसी स्थिरता चित्त संयमी पुरुष ही वीर पुरुष के द्वारा कहे हुए ध्यान की धुरा को धारण करने में समर्थ हो सकता है। ध्यान में एकाग्र चित्त उसका ही तो रहेगा जिसका किसी पर में चित्त नहीं रहता, पर की चिन्ता नहीं रहती। पर की चिन्ता न रहने

देने के लिए पर का त्याग करना होगा। तो जो परिग्रह से रहित है वही ध्यान में सफल हो सकता है। जिसे इन्द्रियविषयों में आसक्ति नहीं है वही ध्यान में सफल हो सकता है। आत्मध्यान कर लेना यह कोई कठिन बात नहीं है। आत्मा तो यह स्वयं ही है। स्वयं यह अपने आपको न जान सके, स्वयं अपने आपके निकट न ठहर सके, यह तो एक अचरज की बात है। बस जो गलती कर रहे हैं उस गलती को छोड़ दें। गलती यही है कि इन्द्रिय के विषयों में प्रेम जग गया है, स्पर्शनइन्द्रिय के विषय कामसेवन, रसनाइन्द्रिय का विषय रसीले स्वादिष्ट भोजन, घ्राणेन्द्रिय का विषय इत्र फुलेल सुगंधित पदार्थों का रखना, उनका गंध लेना, चक्षुइन्द्रिय का विषय जो रूप सुन्दर लगे, मन को सुहावना लगे उसे निरखते रहना, रागभरी बातों के सुनने में प्रीति जगना यही सब है अपराध। इन अपराधों के करते हुए में आत्मध्यान होना तो अशक्य है। अपराध भर न करे फिर किसी भी प्रकार की विपत्ति नहीं है। आत्मध्यान आपका आपके ही पास है।

गृहस्थावस्था में भी विवेक होने से ध्यान की एकदेश सिद्धि- गृहस्थावस्था में यद्यपि कुटुम्बीजन अनेक हैं पर क्या तुम्हें उनके कर्मों पर विश्वास नहीं है। उनके साथ भी कर्म लगे हैं या नहीं? बल्कि आपसे भी अच्छे कर्म हैं उनके। पुण्य विशेष है जो उनके आराम के लिए बड़े-बड़े श्रम करके चिन्ता करके विषय भोगकर क्लेश उठाकर उनका पालन पोषण करते हैं। तो सबके भाग्य का विश्वास रखो, चिन्ता की क्या बात? जिसका जैसा भाग्य है, होनहार है उसके अनुकूल अनायास जरा से श्रम में ही व्यवस्था बन जायगी, और फिर कर्तव्य आपका काम है, उसमें भाग्यानुसार सब बातें होती हैं। हाँ कर्तव्य कुछ न करें, आलस्य में आकर पड़ा रहे, उल्टा उल्टा ही चले और फिर दुःखी हो तो वह जरा मूर्खता की बात होगी, फिर अपने सदाचार से रहें, कर्तव्य का पालन करें तिस पर भी नहीं उदय ठीक आता है तो उसमें समतापरिणाम रखें तो यही एक बड़ा तपश्चरण हो गया। कर्मों की निर्जरा होगी। है क्या? यहाँ संसार में कोई चीज विश्वास के योग्य नहीं है, आज तो छोटा है वह सदा छोटा ही रहे ऐसी बात नहीं है अथवा जो आज बड़ा है वह बड़ा ही रहे ऐसी भी बात नहीं है। यहाँ के ऊँच नीच का, छोटे बड़े का क्या विश्वास करना, और क्या उसका अनुभव रखना। ये सब समय-समय की परिणतियाँ हैं। आत्मा तो सदाकाल रहने वाला है, अमर है, स्वरक्षित है। वह तो जो है सो है। वहाँ कोई बाधा नहीं है, विपत्ति नहीं है। उस ज्ञानप्रकाश से चिगे और बाहर के इस झूठे उजेले में जो कि वास्तव में अंधकार है उसकी ओर भागे कि सारी विपदायें सिर पर मंडरा जाती हैं, जो इन्द्रिय के विषयों में प्रेम न करें और निर्विषय ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीति रखे, सबसे निराला हूँ मैं, मेरी दुनिया सबसे निराली है, अलौकिक विलक्षण शान्तरस से भरपूर मेरा सर्वस्व मुझमें है, इस तरह की प्रतीति करे तो उसको कहाँ क्लेश है। रही बाहर की बातें, कुटुम्ब है, वैभव है, कुछ है अपना? व्यवस्था के समय की बात अलग है। और, जहाँ

आत्मचिन्तन, आत्मधर्मपालन का काम किया जा रहा है उस समय की बात तो सबसे विलक्षण होना चाहिए। ठीक उसी भाँति है ये घर के लोग जिस भाँति दुनिया के सभी जीव हैं। जैसे ये मुझसे भिन्न हैं इसी प्रकार ये सभी सृजन मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। ऐसा सबसे निराला ज्ञानज्योतिमात्र अपने आपको जो निरखता है और इसी ज्ञान के कारण इन्द्रिय के विषयों में आसक्त नहीं होता है उसका चित्त आत्महित के लिए स्थिर होगा और संयमी साधु भगवान के द्वारा प्रणीत ध्यान की धुरा को धारण करने में समर्थ है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के त्यागे बिना और इन्द्रियविषयों का परिहार किये बिना आत्मध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। यह बात मुनिजन तो पूर्णरूप से करते हैं, पर गृहस्थ भी तो उसे कहते हैं जो मुनिधर्म की उपासना करे। आन्तरिक मोक्षमार्ग जो मुनि निभा रहे हैं उसे गृहस्थ भी तो अपनी शक्ति के अनुसार निभायें, ऐसा करने के लिए सम्यग्ज्ञान बनाना चाहिए कि मैं स्वरूप से निष्परिग्रह हूँ, परिग्रह में ममता न रहे तो मैं अपने स्वरूपप्रकाश को अपने ज्ञान में अनुभव सकता हूँ और इस ही ज्ञानानुभव में संसार के संकटों का विनाश करने की सामर्थ्य है और यही मेरे लिए वास्तविक शरणभूत है।

श्लोक- 848

सङ्गपङ्कात्यमुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते।

ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्र्यैः क्वचिन्मुनिः॥

परिग्रह पङ्क से समुत्तीर्ण मुनि की अदुःखरूपता- जो मुनि परिग्रहरूपी कदम से निकल गया हो वही निष्परिग्रहता का आलम्बन ले सकता है। निष्परिग्रहता, निराश्रयता, किसी भी परपदार्थ की इच्छा न रही यह बात तब सम्भव है जब सम्यग्ज्ञान जगा हो, मूर्छा परिणाम हट गया हो, और परिग्रह का त्याग कर दिया हो। साधुजन परिग्रह के सर्वथा त्यागी होने से इतना निष्पृह रहते हैं कि वे अपने उदरपूर्ति के लिए भी कुछ परिग्रह नहीं रखते और साथ ही चूँकि आत्महित की भावना है अतएव शुद्ध निर्दोष सविधि आहार मरने की प्रतिज्ञा रखते हैं। कदाचित् कहीं विधिपूर्वक आहार मिल जाय तो अपने ही हाथ में ग्रास लेकर भोजन कर लेते, बर्तन तक का उपयोग नहीं करते। इतनी निष्पृहता है कि किसी भी परिस्थिति में शरीर का श्रृंगार, आराम मौज मानना ये विकल्प नहीं रखते, केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मप्रकाश के ध्यान में ही धुन बनी रहा करती है, तो यह परिग्रहत्याग का ही तो फल है। जब निष्पृहता जग जाती है तो फिर वह मुनि परतंत्रता के दुःख से नहीं घेरा जा

सकता है। जीवों को दुःख केवल परतंत्रता का ही है। चित्त में यह भाव आया कि मैं परतंत्र हूँ, दूसरे के अधीन हूँ बस इस ही भाव का फल है दुःख। यह अज्ञानी यह विचार नहीं करता कि इस संसार में स्वतंत्र है कौन, जिसको निरखकर मैं ऐसा मानूँ कि यह देखो एकदम स्वतंत्र है और मैं परतंत्र हूँ। यहाँ सभी परतंत्र हैं। मालिक, नौकर, स्त्री, पुत्र, पिता आदिक सभी परतंत्र है, और जो अधिकारीजन हैं, प्रधानमंत्री हैं वे भी परतंत्र हैं, उनका भी प्रोग्राम समिति बनाती है। इस समय यहाँ बैठेंगे, उस समय वहाँ जायेंगे। तो स्वतंत्र है कौन यहाँ जिसको निरखकर हम ऐसी कल्पना बनायें कि मैं बड़ा परतन्त्र हूँ, मुझे बड़ा क्लेश है। सब किसी न किसी ढंग से परतंत्र हैं और इस संसार अवस्था में, इन दृश्यमान मनुष्यों में, इन लौकिक महिमा वाले राजा महाराजाओं में जिनको हम आप स्वतंत्र समझते हैं वे इन दीन दरिद्र लोगों की अपेक्षा भी अधिक परतंत्र हैं, और परतंत्रता ही दुःख है। सबके दुःख न्यारे-न्यारे किस्म के हैं, और जो जितना धनिक है, जो जितने परिग्रह का है या जो जितना प्रतिष्ठित है या जो जितना उच्च अधिकारी है वह उतना परतंत्र है, उसका क्लेश और भी अधिक है। जहाँ परपदार्थों में आसक्ति हो, अपने नाम और यश में प्रेम हो वहाँ परतंत्रता आ ही जाती है।

परिग्रहपरिहार होने के कारण प्राप्त नैराश्यामृत के पान से पारतन्त्र्य का अभाव- मुनिजन सर्व से अपने को न्यारा अनुभव करते हैं, जो निष्परिग्रह हैं उन्हें परिग्रह की कोई चाह नहीं, यश कीर्ति की भी उन्हें रंच चाह नहीं है। ऐसे निष्परिग्रह साधु ही नैराश्य के बल पर अपनी स्वतंत्रता का आनन्द भोग सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक किसी परपदार्थ की आशा लग रही है तब तक पराधीनता बन रही है। जिस पदार्थ की आशा रखता, प्रथम तो उसी के अधीन यह बन गया, अब उसकी प्राप्ति के लिए जो जो साधन चाहियें जिन जिन पुरुषों को प्रसन्न रखना चाहिये अब उन साधनों का यत्न किया जाने लगा, तो जितनी भी परतंत्रतायें हैं उन सबका कारण है परपदार्थों की आशा रखना। जो आशा का परित्याग कर देते हैं ऐसे मुनि स्वाधीन हैं, उन्हें परतंत्रता का दुःख नहीं है। और, देखिये ऐसी स्वाधीनता मिलने पर यदि कोई दुःख भी आ पड़े तो वह दुःख तो अच्छा माना जाता है और परतंत्रता में रहकर कोई सुख भी मिले तो वह सुख अच्छा नहीं माना जाता। स्वाधीन रहकर क्लेश आये तो किसी पर नाराजी तो नहीं आ सकती कि इसने मुझे क्लेश दिया। आ गया, उदय है कर्म का, समता से सहन कर लेगा जहाँ पर का सम्बन्ध बना हो और फिर कोई क्लेश आये तो वहाँ दुःख अनुभवा जाता है। यह संयमी मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है अतएव निष्परिग्रह है और निष्परिग्रह होने के कारण अपने स्वाधीन स्वरूप का अनुभव करता है वह दुःख से नहीं घेरा जा सकता, वह सुखी है। चित्त में यह भाव लाना चाहिए कि समस्त वैभव भिन्न चीजें

हैं, उनमें मूर्छा का परिणाम रखने से शान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। अतः सब परपदार्थों की मूर्छा तोड़कर अपने आपको निष्परिग्रह ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र अनुभव किया करें।

श्लोक- 849

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।

सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः॥

निःसंग साधु की सर्वत्र अप्रतिबद्धता- जो परिग्रह के त्यागी हैं, संयमी हैं वे चाहे निर्जन वन में रहें, चाहे बस्ती में रहें, चाहे सुख से रहे, चाहे दुःख से रहें सभी जगह निर्मोह रहते हैं। परिग्रह का तो अन्तरंग मूर्छा से सम्बन्ध है। जिसमें मूर्छा है वह तो मोही है और जिसके मूर्छा नहीं वह निर्मोह है। निर्मोह रहने में निराकुलता है और मोह में आकुलता है। जितने भी जीव दुःखी हैं। किसी के भी दुःख की कहानी सुन लो सब मोह के कारण दुःखी हैं। निर्मोह साधु किसी भी जगह हों, चाहे नगरी में रहें, चाहे जंगल में रहें पर उनके सम्यग्ज्ञान हैं, आत्मा का परिचय है, आत्मा की धुन है इस कारण वह सर्वत्र निर्मोह है। और जो निर्मोह है वह निराकुल है। जो निराकुल होगा वही आत्मा का ध्यान कर सकेगा, आत्मा का हित कर सकेगा।

श्लोक- 850

दुःखमेव धनव्यालविषविध्वस्तचेतसां।

अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये॥

धर्मसर्पविषदष्ट पुरुषों को अर्जन, रक्षण व नाश में सर्वत्र क्लेश- धनरूपी सर्प के विष से जिसका चित्त बिगड़ गया है उस पुरुष को सर्वत्र दुःख ही दुःख होता है। धन का उपार्जन करने में कितना क्लेश होता है? व्यापार करे, खेती करे या किसी चीज का उत्पादन करे या सेवा करे किसी भी कार्य को करे धनार्जन के लिए उसमें दुःख मानते हैं और धनार्जन हो जाय तो उसकी रक्षा करने में दुःख मानते हैं, कैसे रक्षा करें, कहाँ रखें, घर में रखें तो डाकू चारों का डर है, बैंक आदि में रखें

तो वहाँ सरकार का डर है। अन्याय का धन रख नहीं सकते। न्याय से कमायी परिमित होती है अथवा न्याययुक्त भी कमाई हो तो सरकार के नये-नये कानून बनते हैं। कहाँ रखें यह धन कि रक्षित रहे? बहुत से डकैत लोग तो धनिक लोगों को पकड़कर अपने गिरोह में रखते हैं और उन धनिकों के यहाँ से मनमाना धन मंगा लेते हैं। तो प्रथम तो इस धन के अर्जन में क्लेश है और धन का अर्जन हो जाय तो फिर उसकी रक्षा करने में क्लेश है। और, सुरक्षित भी रहे पर अन्त में उसका नाश होगा, वियोग होगा। तो वियोग के समय तो महान क्लेश होता है। परिग्रह का सम्बन्ध प्रारम्भ से लेकर अन्त तक केवल दुःख ही दुःख का कारण होता है।

परिग्रहसम्बन्ध की अनर्थता- देखिये विचारिये- किनके लिए धन का अर्जन करना? जिनके सुखी रखने के लिए इतना श्रम किया जा रहा है वे आखिर हैं कौन? वे तो सब आपसे अत्यन्त भिन्न जीव हैं, उनसे आपका कुछ भी नाता नहीं है। इस धन वैभव के कारण तो कहीं कहीं मृत्यु का भी सामना करना पड़ता है। धन के इच्छुक अनेक जन हैं, वे कोई ऐसी जाल रच देते हैं कि उस धनिक की मृत्यु कर देते हैं। तो परिग्रह का सम्बन्ध प्रारम्भ से अन्त तक केवल क्लेश ही क्लेश का कारण बनता है। धन की तीन दशायें बतायी हैं- या तो उस धन का भोग कर लो या दान परोपकार कर, या उसका विनाश हो जाय। दान, भोग, नाश ये तीन ही धन की गति होती हैं। जिसने दान नहीं किया अथवा अपने भोगोपभोग नहीं लगाया तो न लगाये, उसके हाथ की बात है। न दान करना चाहे न करे, न खाना पीना चाहे न खाये पिये, पर तीसरी दशा जो नाश है उससे तो बचने का उपाय नहीं चल सकता। जैसे कोई कंजूस यह सोचता है कि मैं इस धन को कुछ खर्च न करूँ और इसे बराबर बनाये रहूँ तो इस बात पर उसका कुछ बल भी चल जाता है। न करे खर्च एक जगह बनाये रहे, सोचे कि हम दान भी न करेंगे, अपने पास ही इसे बनाये रहेंगे तो दान न भी करे यह भी बात बन सकती है, पर यह सोचे कि मैं इस सम्पदा को नष्ट न होने दूँगा, इसे मैं अपने पास ही रखे रहूँगा, इसे बेकार न होने दूँगा तो इस पर तो वश न चल सकेगा। तीसरी गति याने इस धन का विनाश तो निश्चित ही है। अतएव यों ही नष्ट क्यों हो जाय उसे अपने भोग आराम में उपयोग कर लें या दान कर लें तो ठीक है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि परिग्रह का सम्बन्ध क्षोभ का ही कारण होता है। परिग्रह के सम्बन्ध में मनुष्य आत्मा का ध्यान नहीं कर सकता। लोक में आत्मा की सुध लेना ही वास्तव में शरण है अन्य कुछ भी चमत्कार कर ले, झमेला बना ले, यह कुछ भी इसका शरण नहीं है।

श्लोक- 851

स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते धनी।

यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलैः॥

परिग्रहियों पर परिग्रहियों द्वारा उपद्रव- जैसे किसी पक्षी के मांस का टुकड़ा हो तो और और भी अनेक पक्षी उसे पीड़ित करते हैं, उस पर झपटते हैं, इसी प्रकार धनाइय पुरुष भी अपनी जाति वालों से दुःखी और पीड़ित किया जाता है। तो परिग्रह एक ऐसी वस्तु है कि उस परिग्रही पुरुष पर अनेक लोग झपटते हैं, उससे अनेक लोग धन छीनने का यत्न करते हैं। धन वैभव तो एक क्षुब्ध वातावरण बनाने वाली चीज है। जो पुरुष इस धन वैभव में आसक्त है उन पुरुषों को परमात्मस्वरूप का ध्यान नहीं बन सकता। और, परमात्मस्वरूप का जिसके ध्यान नहीं बना उनका जीवन क्या जीवन है? यों तो अनादिकाल से यह जीव अनन्त बार जन्म धारण करता रहा, मरता रहा और उसी तरह अब भी जन्म मरण करता चला आ रहा है, ऐसे जीवन से क्या भला है? अनेक जीवन बने, उनमें से एक यह भी जीवन आ गया। इस जीवन की सफलता तब है जब कोई ऐसा उद्यम बन जाय कि यह संसार के संकटों से सदा के लिए छूट जाय। यह बात तभी बन सकती है जब निष्परिग्रहता को अपनाया जाय। समस्त बाह्यपरिकरों से, परिग्रहों से दूर रहकर अपने आपमें उठे हुए औपाधिक विकारों से भी अलग बसे रहने का प्रयत्न करें, अपने आपको परिग्रहरहित केवल ज्ञानप्रकाश मात्र अनुभव करते रहें तो इस संसार के संकटों से छूट सकते हैं। जो परिग्रह में चित्त लगाये हैं वे इस संसार के चक्र से छूट नहीं सकते। ज्ञानी गृहस्थ यद्यपि उसका जीवन परिग्रह में ही बना हुआ है, परिग्रह छोड़कर वह किस प्रकार रह सकता है? परिग्रह छोड़ दे तो गुजारा बन नहीं सकता, फिर भी जो ज्ञानी गृहस्थ होता है वह परिग्रह से विविक्त होने की भावना बनाये रहता है। ज्ञान का तो यही काम है कि जो जैसी बात है उसको वैसी बना दे। तो ज्ञान से ये सब बातें बन रही हैं, धीरता है, समता है। ज्ञान नहीं है तो बाह्यपदार्थों में आसक्ति है, उनके न ध्यान बन सकता, न मोक्षमार्ग निभ सकता। वे संसार के संकटों से छूट नहीं सकते।

तत्त्वज्ञानी की धर्मवृत्ति का हेतु- ज्ञानी गृहस्थ भी परिग्रह के बीच रहता हुआ अपने को परिग्रही अनुभव नहीं करता। वे सब दृश्य उसकी नजर में हैं। यह मैं अकेला हूँ और ऐसा ही यह मैं अकेला इस शरीर को त्यागकर जब कभी भी चला जाऊँगा। जिसकी यह बात नजर में बनी हुई होती है वह परिग्रह में क्या आसक्त होगा? एक कवि ने कहा है कि विद्या और धन ये दो तो तब

कमाये जा सकते हैं जब चित्त में ऐसा भाव बना हुआ हो कि मैं तो अजर अमर हूँ, बहुत काल जिन्दा रहने वाला हूँ। जो कोई यह विचारे कि मैं तो न जाने कल जिन्दा रहूँगा या नहीं, वह धन क्या कमायेगा? जैसे कोई पुरुष मरणहार पड़ा है, आजकल में ही मरने वाला है उसको धन कमाने की बात मन में नहीं रहती, उसे तो यहाँ का सब असार दिखने लगता है। अब मैं चला, यहाँ कुछ तत्त्व नहीं है, यह सब उसे नजर आने लगता है। तो धन की कमाई तब बन सकती जब यह मान ले कि मुझे तो वर्षों जीना है, इसी तरह विद्या भी तब पढ़ी जा सकती है जब यह जान जाय कि मुझे तो वर्षों जीना है। विद्या एक दिन में तो नहीं आती। ज्ञानध्यान समता की बात तो तुरन्त कर ली जा सकती है पर किसी भी विषय का क्रमसहित विधिवत् अध्ययन होना यह बात तो यों ही नहीं बन जाती। इसके लिए वर्षों चाहिए। तो जो ऐसा सोच ले कि मुझे तो अभी वर्षों जीना है वही विद्या पढ़ सकता है। छंदशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वैज्ञानिकशास्त्र, और और जो ऊँची विद्यायें हैं जिनमें वर्षों का समय लगता है। कोई ऐसी बात लेकर बैठ जाय कि मुझे तो कल का भी पता नहीं कि जिन्दा रहूँगा या नहीं तो वह इन विद्याओं को नहीं सीख सकता है। लेकिन धर्मधारण की बात, समता समाधि की बात वही प्राप्त कर सकेगा जिसके चित्त में यह बात बैठी हो कि मुझे पता नहीं कि मैं कब मर जाऊँ। धर्मधारण करने का पात्र भी वही पुरुष हो सकता है जो यह समझ ले कि मुझे तो कल का भी पता नहीं कि मैं जिन्दा रहूँगा या नहीं। यह धन का सम्बन्ध इस जीव की विपरीत बुद्धि हो जाने का कारण होता है। जो बहुत बड़ा मित्र हो, बन्धु हो, स्वजन हो, बड़ा विश्वासपात्र हो वे सभी इस धन के हरण करने की इच्छा रखते हैं, और कभी वे धोखा देकर उस धन को अपना सकते हैं। तो इस अनर्थ का घर जो धन है उसका सम्बन्ध जिसके बना हुआ है वह पुरुष आत्मतत्त्व के ध्यान का पात्र नहीं बन सकता। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसी अनुभूति की धारा उस पुरुष के न बन सकेगी जिस पुरुष को किसी भी परद्रव्य में राग और स्नेह होता है। तो शरण है एक अपने आत्मतत्त्व की सुध। उस आत्मतत्त्व की सुध को बनाने के लिए कर्तव्य है कि हम परिग्रहों में मूर्छा न रखें और आत्मतत्त्व की अपनी रुचि बनायें।

श्लोक- 852

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे।।

परिग्रह के सम्बन्ध से आरम्भ और प्राणिघात जैसे अनर्थों की संभूति- जीवों के परिग्रह से इस लोक में क्षोभ होता है। परिग्रह से क्या क्या अनर्थ होते हैं, इस बात को इस छंद में बता रहे हैं। प्रथम तो क्षोभ होता है, साधुजन हैं, उनके पास कोई परिग्रह नहीं तो वे आरम्भ क्या करेंगे, चीज ही कुछ नहीं है। न बर्तन हैं, न पैसा है, न भोजनसामग्री है, कुछ भी चीज तो पास नहीं है। उनको शीत सताये तो अग्नि जलाकर ताप भी तो नहीं सकते। केवल शरीरमात्र जिनका परिग्रह है, अन्य कुछ भी पास नहीं है तो ऐसे साधु संत आरम्भ क्या करेंगे? आरम्भ होता है परिग्रह से। परिग्रह हो तो उससे हिंसा होती है, प्रथम तो किसी भी बाह्यवैभव में परिणाम रखना यह ही एक हिंसा है। हिंसा का तात्पर्य है अपने आपके प्राणों का घात करना। अपने प्राण है ज्ञानदर्शन, चैतन्यप्राण। उसका विघात करना सो हिंसा है। जिसके परिग्रह की मूर्छा लगी है उसने अपने चैतन्यप्राण का घात किया। अपना विकास रोक दिया, यही तो हिंसापरिग्रह के सम्बन्ध में होता है।

परिग्रह के सम्बन्ध से कषायों का उद्वेक- परिग्रह के सम्बन्ध से कषाय उत्पन्न होती है। किसी के क्रोध जगे तो उसका भी कारण इस परिग्रह की मूर्छा है। अभिमान प्रकट हो तो उसका भी कारण परिग्रह है। इस परिग्रह को दौलत कहते हैं, अर्थात् उसके दो लात हैं। जब यह वैभव आता है तो छाती में लात मारता है जिसके कारण एकदम छाती अकड़ जाती है, अर्थात् जिसके पास धन वैभव होता है वह अभिमान करके छाती फुलाकर चलता है। तो हुआ क्या? इस धन वैभव ने, लक्ष्मी ने आते ही छाती पर लात लगाया और जब यह वैभव नष्ट हो जाता है तो उस मनुष्य की कमर झुक जाती है तो पीठ पर लात मारकर जाती है अर्थात् जब निर्धन हो जाता है तो उस मनुष्य की कमर झुक जाती है। फिर वह छाती फुलाकर अभिमान से नहीं चलता है। तो अभिमान जगता है तो इस परिग्रह के सम्बन्ध से जगता है। लोग कहते हैं ना किसी को यदि ठंड नहीं लगती तो कहते हैं कि इसके जेब में रुपया पड़ा होगा उसकी गर्मी लग रही है। तो इस परिग्रह के सम्बन्ध से अभिमान जगता है। मायाचार जो दुनिया में फैला हुआ है उसका भी कारण यह परिग्रह है। परिग्रह का सम्बन्ध न हो तो सब एक प्रकार के हो गए। तो परिग्रह के सम्बन्ध से मायाचार जगता है और परिग्रह के ही सम्बन्ध से लोभ कषाय जगती है। यह वैभव जितना मिले उतना ही लोभ बढ़ता जाता है। और उस तृष्णा की धारा में बहकर यह जीव सँभलना भी तो नहीं चाहता कि चलो जो है वही बहुत है। इससे आगे अब हमें और कुछ न चाहिए। सबसे महान कार्य इस मनुष्य जीवन में आत्महित करने का है। आत्महित में ही हमारा जीवन लगे ऐसी भावना किसी ज्ञानी पुरुष के ही हो पाती है।

परिग्रह के सम्बन्ध से अनेक दोष धारण होने से दुर्गतिवास का क्लेश- जहाँ परिग्रह का सम्बन्ध है वहाँ ही यह सब विवेक उड़ जाता है। तृष्णा कषाय जगती है, यों परिग्रह का आरम्भ बनता है, हिंसा होती है, कषाय जगती हैं और फिर नरकों के दुःख भोगने पड़ते हैं। तो जो परिग्रह है वह अनर्थ का मूल है। उस परिग्रह के रहते सनते कोई सुख का मार्ग निकाल लेना, शान्ति का रास्ता निकाल लेना यह तो अशक्य है। परिग्रहों में मूर्छा न रहे तो उपयोग विशुद्ध रहेगा, और विशुद्ध उपयोग ही आत्मा की ओर ध्यान लगा सकता है। जिन्हें आत्मध्यान की इच्छा है उन पुरुषों का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि समस्त परिग्रहों से मूर्छा भाव को दूर करें। पास में परिग्रह हो तो उसमें मूर्छा न रखें। सुख शान्ति चाहने वाले पुरुषों को इस परिग्रह की उपेक्षा करनी होगी।

श्लोक- 853

न स्याद्धयातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेऽपि निश्चलं।

मुने परिग्रहग्राहेर्भिद्यमानमनेकधा।।

परिग्रहपिशाचपीडित पुरुष की ध्यान में नितान्त अक्षमता- जिस मनुष्य का चित्त परिग्रहरूपी पिशाच से पीडित हो गया है उसका चित्त ध्यान करते समय कभी भी स्वप्न में भी निश्चल नहीं रह सकता है। परिग्रह में अपनायत की बुद्धि जाती है तो उसका मन निश्चल नहीं रह सकता। जो हित का पंथ है, धर्म का तत्त्व है उसमें चित्त नहीं जा सकता। सो यह परिग्रह पिशाच की पीड़ा है। इस परिग्रह के कारण सभी लोग उसे किसी न किसी प्रकार से धोखा देकर उसका धन हड़पने की बात सोचते हैं। उस परिग्रह के कारण महान क्लेश होता है। तो जिसका चित्त परिग्रह से पीडित है उस पुरुष का चित्त कभी भी स्थिर नहीं हो सकता। जिस ज्ञानी संत का यह दृढ़ निर्णय है कि यह मेरा परमात्मतत्त्व शाश्वत निर्लेप है। कर्मउपाधि से कुछ यह बिगाड़ हो गया है कि इस शरीर का बन्धन है, कर्मों का बन्धन है, कर्मों के उदयवश सुख अथवा दुःख भोगना पड़ रहा है लेकिन मेरा जो सहज स्वरूप है वह अत्यन्त शुद्ध है, वह ज्ञानानन्दमात्र है, ऐसे निर्णय वाले ज्ञानी संत का चित्त परपदार्थों में नहीं बसता, अतएव स्थिर रहता है। और, जिसने आत्मा का यह मर्म नहीं पाया वह पुरुष बाह्य पदार्थों में ही हित की आशा रख रखकर दुःखी होता है और अपना यह लोक भी बिगाड़ता है और परलोक भी बिगाड़ता है। तो चित्त स्थिर हुए बिना आत्मध्यान नहीं होता। आत्मध्यान बिना मुक्ति नहीं मिलती। अतएव रागद्वेष मोहादिक को हटाकर मैं ज्ञानमात्र हूँ, सबसे

निराला हूँ, ऐसी प्रतीति बनायें। जो ऐसी प्रतीति बनाता है उसे इस भव के भी संकट नहीं आते और परलोक के भी संकट नहीं आते। तो धर्म करने के लिए केवल एक ही काम करना है। अपने आपको मैं सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हूँ, यह एक श्रद्धा अपने अन्दर करनी है। यह श्रद्धा बन जाय तो आत्महित के लिए क्या क्या करना होता है, वे सब बातें इसके लिए सुगम हो जाती हैं। तो अपना कर्तव्य यह है कि सब परपदार्थों से न्यारे केवल ज्ञानस्वरूप में अपने आपको लगा लूँ और इस प्रतीति के ही अनुसार मैं अपने उपयोग का प्रयोग करूँ तो इससे शान्ति मिल सकती है। परिग्रह में चित्त बसाने से, तृष्णा बढ़ाने से इस जीवन में कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जो विवेकी पुरुष हैं वे परिग्रह को त्यागकर अपने विशुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं और मुक्ति पाने का उपाय करते हैं।

श्लोक- 854

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य-
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम्।

सकल विषयबीजभूत वित्तजाल के त्याग में ही भलाई का अवसर- संसार का यह प्राणी जन्म के बन्धन में पड़ा हुआ दुःखी हो रहा है। यह जिस शरीर में पहुँचता है उसी को अपना सर्वस्व समझता है और चित्त में कभी यह बात न आने देता कि इस शरीर को त्यागकर आगे भी कहीं यात्रा करनी होगी। इस शरीर के सम्बन्ध से जो कुछ वैभव है यह ही मात्र मेरा सब कुछ नहीं है ऐसी प्रतीति नहीं हो पाती है। फल यह होता है कि जैसे अनन्तकाल इस जीव ने जन्म बन्धन में बिताये, जब जब जो जो शरीर पाया तब तक उस शरीर में ममता रखी, शरीर के बन्धन को अपना सर्वस्व वैभव माना, वही प्रकृति आज भी है, और यह रहा सहा थोड़ा सा समय भी बहुत ही शीघ्र गुजर जायगा, फिर आगे भी यही प्रकृति रखेगा ऐसा जन्म बन्धन इस जीव के बहुत भयंकर लगा हुआ है। इसका विनाश करने में ही हित है। जो पुरुष सम्यग्ज्ञानी हुए हैं, जिनके विवेक जगा है, जिनका होनहार अच्छा होना है, उन्होंने इस विवेक का आदर किया और जिनमें शक्ति थी इस जन्म बन्ध को शीघ्र दूर करने वाले साधुजन, सर्वप्रकार के विकल्पों को त्यागकर केवल एक आत्मा के

ध्यान में ही अपना उपयोग लगाया और जो पुरुष ऐसे थे कि इतना महान व्रत धारण नहीं कर सकते थे उन्होंने भी निर्णय तो यही बनाया कि गृहस्थी में रहें तब भी निश्चय तो यह रखें कि जन्म का बन्धन दूर करना चाहिए। ये समस्त बाह्य परिकर निःसार हैं, इनसे मेरे आत्मा के लिए कोई हित की बात नहीं आती। निर्णय गृहस्थी में भी यही रहे कि मैंने गृहस्थी किसी परिस्थितिवश अंगीकार किया है, वहाँ कुछ वैभव की जरूरत हुआ करती है तो इस वैभव के बीच रहते हुए भी, वैभव का रक्षण करते हुए भी श्रद्धा अपनी शुद्ध बनाये रहते हैं। यह धनसमूह, यह समस्त वैभव समस्त विषयों का बीज है। एक कवि ने कहा है- जवानी धन, सम्पदा, प्रभुत्व और अज्ञान ये चार अनर्थ के कारण हैं। इनमें एक भी हो तो भी जीव को अनर्थ की ओर ले जाता है। जवानी शरीर की युवावस्था की प्रकृति ही विकारों की ओर बढ़ाने की है। तो जवानी भी प्रायः अनर्थ के लिए होती है। यदि किसी के विवेक है, ज्ञान है, सम्हाल है, आत्मसम्बोधन सही है ऐसा कोई विशिष्ट पुरुष ही युवावस्था में अपना विवेक रखता है और आचरण में सही उतरता है। लेकिन प्रायः करके ज्ञानीजन कहाँ रखे हैं अतएव युवावस्था पाकर लोग अपना अनर्थ ही करते हैं इसी तरह धन सम्पत्ति की भी बात है। प्रायः जहाँ धन सम्पत्ति होती है उन पुरुषों को अभिमान रहता है, अपने आपको बड़ा समझते हैं और उस बड़प्पन की गंध से लोगों को तुच्छ समझकर उन पर अन्याय करते हैं और जिस चाहे उपाय से विषयसाधन में लग जाते हैं। तो धन सम्पदा भी अनर्थ का कारण है। इसी प्रकार कुछ प्रभुता आ जाय, अपने पड़ोस में, गाँव में कुछ बला बन जाय उसे कहते हैं प्रभुता। प्रभुता मिल जाय तो वह भी अनर्थ का कारण बनता है, और अज्ञान हो, अविवेक हो तो वह अनर्थ की खान है ही। तो ये चारों चीजें अनर्थ की खान हैं। यह सब सम्पत्ति का समूह समस्त विषयों का बीजभूत है। पंचेन्द्रिय के विषय भली प्रकार भोगे, इसके लिए उत्साह देने वाला तो यह वैभव ही है।

सकलसावद्यमूल वित्तजाल के परिहार में ही श्रेयोलाभ का अवसर- यह धन वैभव समस्त पापों का मूल है। जो भी करोड़पति हैं, धनिक लोग हैं उनकी चर्या देख लो, उनका दिल ही जानना होगा। लोग धन वैभव को अधिक से अधिक चाहते हैं किन्तु एक कवि के कथनानुसार बात यह समझना है कि जैसे स्वच्छ पानी से समुद्र नहीं भरा करता है इसी प्रकार शुद्ध धन से विभूति भी नहीं बढ़ती है। जैसे समुद्र मलिन नदियों से मटमैले जल से भरता है इसी प्रकार यह वैभव भी अन्याय वगैरह करके अधिक बढ़ता है। अपना परिणाम मलिन करे, हिंसा करे, कुगति में ले जाने के काम करे तो एकदम वृद्धि हो जाती है। न्याय नीति से कमाने में तो एक शान्ति के लायक वातावरण रहे, साधारणरूप में गुजारा चले, यही बात बन पाती है। धन की कोई सीमा नहीं है कि इतना वैभव हो जाय तो सुखी हो जायें। मन में धनसंचय की इच्छा रखकर घोर श्रम किया जाय, उद्यम किया जाय तो यह धन बढ़ता रहता है। यह धन सम्पत्ति नरकरूपी नगर की ध्वजा है। जैसे किसी नगर में

ध्वजा लहराती है, उस ध्वजा का दर्शन पहिले होता है फिर उस द्वार से नगर में प्रवेश करते हैं, इसी प्रकार नरक में प्रवेश कराने के लिए यह वैभव ध्वजा की तरह है। देखिये आत्मा का हित है, आत्मा अपने सहज शुद्ध स्वरूप की ओर उपयोग दे इसमें आत्महित है। बड़े-बड़े महान ऋषियों ने यह बात बतायी है कि अपना ज्ञान अपने आत्मतत्त्व की ओर रहे, यही भाव जीव का हित है, यही वास्तविक धर्मपालन है। ऐसा न होकर धन वैभव की इच्छा करना, उनके जोड़ने की मन में धुन रखना, इनमें यह उपयोग कितना दूर चला जाता है और धन संचय के लिये न्याय अन्याय कुछ भी नहीं गिनता है। लेकिन यह बात बिल्कुल युक्त है कि मनुष्य न्याय अन्याय कुछ भी करे, नियम से उसका फल भोगना पड़ता है। यह तो एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, किसी की बनायी हुई बात नहीं है। यह जीव जो भी कर्म करता है उसका फल स्वयं भोगता है। कभी कभी अन्याय करते हुए में भी धनवृद्धि होती, खूब यश प्राप्त होता लेकिन यह एक पूर्वकृत पुण्य का फल है कि अन्याय करते हुए भी ये सब बातें दिख रही हैं। कोई छोटा मोटा पुण्यकर्म होता तो उस अन्याय के करने से तुरन्त नष्ट हो जाता, पर अन्याय करते हुए भी सम्पदा की अधिक प्राप्ति हो तो समझना चाहिए कि यह पूर्वकृत किसी उत्कृष्ट पुण्यकर्म का फल है।

दुर्गतिबीजभूत वित्तजाल का परिहार कर सन्तोषराज्य का लाभ लेने का अनुरोध- संग संगम पुण्यफल तो है किन्तु इसका परिणाम होता क्या है कि यह धन वैभव पाकर यह जीव विषयों में प्रवृत्त होता है, कषायों में बढ़ता है, अहंकार में बढ़ता है, अपने आपको को भूल जाता है। उस समय इसके ऐसे कर्मों का बन्ध होता है कि इसे नरकादिक के घोर दुःख भोगने पड़ते हैं। हे मुनि ! इस धन वैभव को दुर्गति का बीज जानकर तू छोड़ दे, और जो मुनिसमूह को आनन्द देने वाला है ऐसे सन्तोष राज्य का अनुसरण कर। देखिये जो बात जैसी है उसे वैसी मानना ही चाहिए। धन हमसे भिन्न वस्तु है, इस धन वैभव के संसर्ग से इस आत्मा को कुछ भी सिद्धि न होगी। आत्मा का जो सत्य आनन्द है उसे प्राप्त करो। इस धन वैभव का संसर्ग तो इस संसार में भटकाने वाला है। भले ही इस शरीर के सम्बन्ध से यह आवश्यक हो गया है कि भोजन करने का साधन रखें। अपनी व्यवस्था के लिए आजीविका का ढंग भी बनाना पड़ता है, उदरपूर्ति के लिए अनेक साधन बनाने पड़ते हैं। यह सब करते हुए भी अन्तरंग में ऐसी भावना रहे कि ये सब क्रियायें तो मेरे आत्मा के अनर्थ के लिए हैं। किसी तरह से ये सारे झंझट भी छूट जायें, एक शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाय यही बात उत्तम है। जो बात सर्वोत्कृष्ट है उसे ज्ञान से अलग न करना चाहिए। जब भी कल्याण होगा तो इसी विधि से होगा। तो यह मार्ग मुनिसमूह को आनन्द देने वाला है, इस ही आत्मनिष्ठा से सन्तोष का राज्य प्राप्त होता है। मुझे चाहिए कि उसका अनुसरण करें और जन्मबन्ध के विनाश की अभिलाषा रखें। कुछ भी स्थिति आये यह मानते ही रहें कि यह परिग्रह आत्मा की वस्तु नहीं है,

इससे आत्मा का हित नहीं है, सबसे निराले अपने आपके स्वरूप को निरखने में ही कल्याण की प्राप्ति है।

श्लोक- 855

एनः किं न धनप्रसक्तमनसां नासादि हिंसादिना
कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दुःखानलैः।
तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वरं व्यामूढ वित्तस्पृहां
येनैकास्पदतां न यासि विषयैः पापस्य तापस्य च।।

परिग्रहसम्पर्क में क्लेशों का अधिकारित्व- हे मोही आत्मन् ! विचार तो करो, जिनका मन धन में लम्पटी है उन्होंने क्या हिंसा आदिक कार्यों से पापों का अर्जन नहीं किया? और, उस धन के उपार्जन में, रक्षण में, व्यय करने में दुःखरूपी अग्नि से कौन नहीं जला? धन के प्रसंग में किसे क्लेश नहीं होता? उसका विचार करने के समय भी क्लेश, उसके अर्जन में भी क्लेश, उसकी रक्षा में भी क्लेश, और रक्षा करते करते नष्ट हो जाता है उसमें भी क्लेश। यह संसार क्लेशों का घर है, और जैसे शरीर के जितने रोग होते हैं उन रोगों में कोई भी रोग आ जाय वही इस जीव को बड़ा मालूम पड़ता है। जैसे बड़े तीव्र बुखार के सामने हाथ में अथवा पैर में कोई फुंसी हो जाय तो वह कोई बड़ा रोग तो नहीं है लेकिन किसी को फुंसी भी हो तो वह उसमें बड़ा कष्ट मानता है। तो जो भी रोग आये उसी को महान समझता है, ऐसे ही जिसको जितना घाटा हो, नुकसान हो उसे ही वह महान समझता है। जैसे मान लो किसी को आज हजार रुपये का नुकसान हुआ तो जरा उन पर भी तो दृष्टि दो जिन पर जोरावरी और सताकर जबरदस्ती 10-20 हजार रुपये लूट ले जाते हैं, तो उनके दिल से पूछो कि उन्हें क्या दुःख है और उनसे भी बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते उनके दिल से पूछो। तो संसार में सर्वत्र क्लेश ही क्लेश भरे पड़े हैं। उस क्लेश का क्या बुरा मानना? उसके तो ज्ञातादृष्टा रहें, हो गया यह, ऐसा ही होना था। क्या है यहाँ मेरा? मेरा हित तो मेरे स्वरूप की चिन्तना ही है। शेष तो सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति है।

महान् आत्माओं के परिग्रह परित्याग का विवेक- धन के विचार में, अर्जन में, रक्षण में, विनाश में यह जीव दुःख अग्नि से जलता ही रहता है। इस ही कारण साधु संतजन उसको पहिले ही छोड़ देते हैं। जो नहीं छोड़ सकने के योग्य है, गृहस्थ हैं भी यदि वे भी अपने ज्ञानबल को

समूह हैं तो वे किसी ऐसी परिस्थिति में घबड़ाते नहीं हैं। बड़े-बड़े राजपुरुष कौरव पाण्डवों को देखें, धन सम्पदा की आशा रखकर ही उनका भी विनाश हुआ। पाण्डवों ने अन्त में कुछ अपना विवेक बनाया और सर्व लालसावों को त्यागकर अपने आपके आत्मचिन्तन में लग गए। तो पाण्डवों ने भी सम्पत्ति को छोड़ा, कौरवों ने भी सम्पत्ति को छोड़ा। कौरव तो आशा में मरकर कुगति में गए और पाण्डवों ने अपने आप ही विवेक करके त्यागकर आत्मध्यान से तीन ने निर्वाण पाया और दो स्वार्थसिद्धि गये। तो ये सब समागम अनित्य हैं, इनका नियम से वियोग होगा ऐसा मानते रहने से जीवन में क्लेश नहीं आता। ठीक है उदयानुसार होता है जो भी होना है, ऐसा ज्ञानी पुरुष जब धन आ रहा हो तो भी हर्षमग्न नहीं होता और जब वियोग होता हो तब भी दुःखमग्न नहीं होता। हे मुनि ! समस्त संग का, परिग्रह का परित्याग करके तू निःसंग निष्परिग्रह ज्ञानानन्दस्वरूप निज अन्तस्तत्त्व का ध्यान कर। विषय और पाप का संग मत कर। यह सब कल्याणार्थी पुरुषों के लिए आचार्यदेव का शिक्षण है। न्यायवृत्ति न छोड़े। न्याय छोड़ने से चित्त अस्थिर हो जाता है। अन्याय के परिणाम से चित्त में सन्तोष नहीं रहता। जब चित्त में सन्तोष न रहा तो इन जड़ पौद्गलिक के ढेर से इसे लाभ क्या होगा? धर्म में रुचि होनी चाहिए। समय पर प्रभु का ध्यान आना चाहिए। अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का स्मरण होना चाहिए। ये बातें भी यदि चलती रहें तो गृहस्थावस्था में सब कुछ किया जाने पर भी उसे शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता रहेगा।

श्लोक- 856

एवं तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं तत-
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुञ्जीय चैवं पुनः।
द्रव्याशारसरुद्धमानस भृशं नात्मानमुत्पश्यसि
क्रुद्धयत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्वान्तरालस्थितम्॥

धन वैभव की लालसा में अपने सर्वस्वविनाश की योजना- हे बहिरात्मन् ! धन की आशा के रस से तू भर गया है और उस आशारस के द्वारा तेरा मन रुक गया है अतएव तू ऐसा विचार करता है कि मैं प्रथम तो धन का उपार्जन करके वैभववान बनूँगा और फिर उसकी रक्षा करूँगा, वृद्धि करूँगा और इस उपाय से उसे मैं भोगूँगा ऐसी तू अपनी कल्पनाएँ बनाता है किन्तु तुझे यह पता नहीं कि यह यमराज किसी दिन उठा लेगा अर्थात् आयुक्षय किसी दिन अचानक हो जायेगा।

कोई गर्भ में ही मर जाता है, कोई जन्मते ही मर जाता, कोई जवानी में और कोई वृद्धावस्था में मर जाता है। यहाँ मरण का कोई समय निश्चित नहीं है। मृत्यु हम आप सबके सिर पर मंडरा रही है यह कहना अत्युक्ति न होगा। जब संसार की ऐसी स्थिति है तो हे आत्मन् ! तू अनेक ऐसी कल्पनाएँ जोड़ता है कि कोई तो पंचवर्षी योजनाएँ बनाते हैं पर तू तो एकदम से जीवनभर की कल्पनाएँ बना डालता है। अरे जुलाहा भी जब कपड़ा बुनता है तो वह भी कुछ किनारा बुनने से छोड़ देता है पर यह मनुष्य अपने जीव में कभी भी इन कल्पनाजालों से विराम नहीं लेता है। यह मोही जीव अपने जीवनभर का ऐसा ताना पुरता है कि यह अपनी जिन्दगी में कभी विराम नहीं लेता है। हम आप भगवान की मूर्ति के समक्ष आकर क्या शिक्षा पाते हैं? अरे उन्होंने इस रागद्वेष मोह का परित्यागकर अपने आत्मा में विश्राम पाया, ऐसा ही करना हम आपका कर्तव्य है, यही तो शिक्षा हम आप उस प्रभु की मूर्ति से लेते हैं। पर यहाँ तो क्या हो रहा है लोग यही कल्पनाजाल पूरा करते हैं कि मैं यों यों धन कमाऊँगा, यों यों खर्च करूँगा, यों करूँगा, यों करूँगा ऐसा ही सोचते रहते हैं पर मैं मरूँगा, मैं मरूँगा ऐसा कभी नहीं सोचते। हे आत्मन् ! तू स्वरूप से ज्ञानमय है, आनन्दमय है, तेरे स्वरूप में कोई कमी नहीं है, ज्ञान ही तेरा स्वभाव है और निराकुलता ही तेरा वैभव है। यह कहीं से माँगा हुआ गुण नहीं है, किसी परचीज से प्रकट किया हुआ गुण नहीं है, यह आत्मा में स्वयं ही है। जब तू स्वयं ही ज्ञानानन्दमय है तो अब पर की ओर उपयोग देकर अपने में व्यग्रता क्यों मचाये हुए है? जो होना है सो हो रहा है, होने दो। तू अपने आपकी ओर दृष्टि कर, अपने आपमें प्रसन्न रह, विश्राम पा। ये कर्म भी उन्हें ही सताते हैं जिन्हें धन की आशा अथवा जीवन की आशा लगी है। सभी मनुष्य अपने अपने हृदय से सोच लें कि ये दो बातें लगी हैं- धन की आशा लगी है और जीवन की आशा लगी है। यदि यह कल्पना जग गयी कि कहीं धन न नष्ट हो जाय, जीवन न नष्ट हो जाय तो अन्दर से एक घबड़ाहट सी मालूम होती है। तो आप यह समझिये कि इन दो बातों में यह मोही जीव बड़ा कष्ट मानता है- धन न रहे और जीवन न रहे। क्योंकि कर्मों के और विकट उपद्रव हो ही क्या सकते हैं। लेकिन ये कर्म उनको ही सता सकेंगे जो धन और जीवन की आशा रखते हैं।

अन्तस्तत्त्व के अतिरिक्त सर्व सङ्गम की आशा से रहित पुरुषों को कल्याणलाभ- जिन संतों को न धन की आशा है, न जीवन की आशा है अर्थात् किसी भी चीज की आशा को जिनके कोई गंध नहीं है- जीवन रहे तो, न रहे तो इसलिए ये संतजन इस आशा का पूर्ण परित्याग कर देते हैं। और, ऐसे ही संतजन इन कर्मबन्धनों को तोड़ सकते हैं जिन्होंने इस आशा का पूर्ण परित्याग कर दिया है। जो बाह्य में सर्व की आशा का त्यागकर मृत्यु का सहर्ष स्वागत करें उनका कर्म क्या करेंगे? किसी भी चीज की आशा बनाना यह अपने अनर्थ का ही कारण है। समस्त पापों का

कारण है परिग्रह का संग्रह। इस परिग्रह के संसर्ग से अनेक कल्पनाएँ बनाना यह अनर्थ का कारण है, समस्त पापों का कारण है ऐसा निर्णय रखना चाहिए। पूर्ण सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के पालन में ही अपना हित है। कहीं वैभव की आसक्ति होने के कारण, उसके संचय हो जाने के कारण मेरा हित नहीं हो सकता है। ऐसा निर्णय रखने वाले पुरुष कभी दुःखी नहीं होते। यहाँ आचार्यदेव मुनिजनों को समझा रहे हैं क्योंकि उनको ही सम्बोधने के लिए यह ग्रन्थ बना है कि यदि निर्वाण चाहते हो, आत्महित चाहते हो, शान्ति चाहते हो तो आत्मा का ध्यान करो। और, आत्मा का ध्यान तभी बन सकता है जब किसी बाह्यपरिग्रह की ममता न हो। अतएव समस्त पर का परित्याग करें और आत्मध्यान करके अपने आपमें प्रसन्न हों। इससे अपन को भी यह शिक्षा लेना चाहिए कि इन बाह्य परिग्रहों को हटाने में ही लाभ है और आत्मा के शुद्धस्वरूप में प्रवेश करने में ही लाभ है।

अथ सप्तदश प्रकरणम्

श्लोक- 857

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये।

आशां सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलंब्यते॥

कल्याणार्थी पुरुषों द्वारा आशा का निराकरण करके नैराश्य का आश्रयण- आत्मा का वास्तविक आनन्द अपने आत्मा में है। जब किसी भी परपदार्थ की ओर दृष्टि नहीं रहती, किसी पर के विकल्प नहीं जगते तो ऐसे परम विश्राम के समय जो आत्मा का मिलन होता है वह ही एक शरणभूत चीज है, इसके अतिरिक्त बाह्य में जितने भी धंधे हैं, संसर्ग हैं, स्नेह हैं वे सब क्लेश के कारण हैं। इसी कारण ज्ञानी संत पुरुष आत्मध्यान के लिए ही सारा प्रयत्न करते हैं। आत्मध्यान में सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि परिग्रहों का त्याग करें। जो परिग्रह संसर्ग में है उसका विकल्प अवश्य होगा और विकल्प रहते हुए की स्थिति में आत्मा का ध्यान नहीं बनता। अतएव जिन्हें आत्मध्यान चाहिए उन्हें परिग्रह का त्याग प्रथम करना होगा और परिग्रह के त्याग की बराबर सिद्धि तब बनेगी जब आशा को छोड़कर निराशता का अवलम्बन किया जाय। आशा के परित्याग से ही

आशा छूटे और वैराग्यभाव का आदर बने तो परिग्रह का त्याग निभ सकता है। निराशा के आलम्बन का अर्थ यह है कि चित्त में यह निर्णय हो कि हे प्रभो ! मुझे तो ऐसी स्थिति चाहिए जिस स्थिति में किसी परपदार्थ की आशा न रखनी पड़े। जब ज्ञान और विवेक जगता है तो उस ज्ञान की अंतरंग में एक वाञ्छा रहती है कि हे नाथ ! मेरे किसी तरह की वाञ्छा इच्छा आशा न जगे और मैं अपने परमात्मस्वरूप को निहारकर ही स्वाधीन रहूँ, प्रसन्न रहूँ, यही एक मात्र चाह रहती है, इसी का नाम है निराशता का आलम्बन। जो सत्पुरुष हैं वे बहिरङ्ग और अन्तरंग समस्त परिग्रहों के त्याग की सिद्धि के लिए प्रथम ही प्रथम यह उपाय करते हैं कि आशा को छोड़कर निराशता का आलम्बन करना है। आशा एक जाल है और व्यर्थ का जाल है, किसी परपदार्थ से अपने आत्मा का क्या सम्बन्ध है? पर है, भिन्न है, आज साथ है, कल न रहेगा। उससे मेरे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उन परपदार्थों के प्रति आशा का परिणाम बनाये रखे तो वह एक महाविकट जाल है, इस आशा के जाल में सारा संसार दुःखी है। और, एक दूसरे को मूर्ख क्यों नहीं नजर आते? जो पर की आशा रखते हैं वे तो मूढ़ हैं पर यहाँ एक दूसरे को मूर्ख क्यों नहीं मानते? यों नहीं मानते कि सभी मूढ़ है, परपदार्थों के मोह में सभी पड़े हुए हैं, इस कारण इन मोही पुरुषों के चित्त में इस परिग्रह की कीमत बनी रहती है, इसका महत्त्व बना रहता है इस कारण सबको ठीक सा जंचता है, मूर्खता नहीं मालूम होती है, किन्तु यह मूढ़भाव इतना घोर विपत्ति का साधन है कि आज मनुष्य है, मनुष्य देह छूटेगी फिर अन्य जन्म लेगा, यों जन्म और मरण की परम्परा में लगता रहेगा, यह सब आशा का कारण है।

श्लोक- 858

यावद्वावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्॥

शरीराशा व देहबुद्धि में मोह गांठ की दृढ़ता- मनुष्यों के जैसे जैसे शरीर में और धन में आशा का फैलाव होता है वैसे ही वैसे जड़ मोहकर्म की गांठ और दृढ़ होती जाती है। हम भगवत् जिनेन्द्रदेव की क्यों इतनी महिमा गाते हैं, उनमें कौनसा प्रधान गुण है? वह गुण है कि उनके आशा का अभाव हो गया है। अब भविष्य में कभी भी उनमें आशा न जग सकेगी केवलज्ञान हो गया है, जैसा विशुद्ध आत्मा है केवल अपने स्वरूप से वैसा प्रकट हो गया है। भगवान का और स्वरूप क्या

है? अपने आपमें अपने प्रति ऐसा भाव बनायें कि मैं तो मैं ही हूँ, शरीर मैं नहीं, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, रागद्वेष मैं नहीं, केवल जो रागद्वेष है, जानकारी प्रकाश जो ज्ञान बनता है वही मात्र मैं हूँ ऐसा अपने को केवल ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव करते जाइये और इस धुन से अनुभव करिये कि शरीर का भान तक भी न रहे, यह भी ज्ञात न रहे कि किस जगह बैठा हूँ, क्या टाइम है इस समय? न काल का भान रहे, न क्षेत्र का भान रहे, न पिण्डों का ध्यान रहे, क्या क्या वस्तुवें हैं इस जगह? यहाँ तक कि अपने शरीर का भी भान न रहे, केवल ज्ञानमात्र अनुभव रहे तो यह ज्ञानानुभव मोह ग्रन्थि को तोड़ देगा। इसके विरुद्ध जहाँ पर की ओर दृष्टि जगती है, आशा जगती है तो यह मोह की गाँठ और और कठिन दृढ़ होती चली जाती है। जैसे लोग सोचते है कि हम करीब 10-15 वर्ष में एकदम स्वतंत्र और बेफिक्र हो जायेंगे। हमारा जो बालक है वह पढ़ रहा है, कुछ दिनों में उसका काम चल जायगा, हमसे फिर कुछ मतलब न रहेगा। उसे योग्य बना दें, फिर वह सारा काम सम्हाल लेगा, मुझे कोई चिन्ता ही नहीं रहेगी, बेफिक्र हो जायेंगे, मगर कुछ समय के बाद फिर आशा जगती है। अब बालक के भी बालक हो गया, इसे भी पढ़ा लिखा दें और जितना मोह पुत्र से पिता का नहीं होता, उतना मोह बाबा का हो जाता है। दादा का मोह पोते पर अधिक होता है। और, कानून में भी यह बात है कि दादा की जायदाद का अधिकारी पोता होता है, लड़का नहीं। तो इससे ही अन्दाज कर लो कि दादा का पोते पर अधिक मोह होता है। लो अब मोह बना तो उस मोह का फंसाव बढ़ने लगा। पोता बड़ा हुआ, उसकी शादी हुई, पोते के सुख के लिए अनेक प्रकार की चिन्ताएँ करते। यों जिन्दगी में कभी विराम नहीं मिल पाता। कोई विरला ही ज्ञानी पुरुष ऐसा होता है कि स्वजन की कैसी भी परिस्थिति हो, पर उनमें मोहभाव नहीं लाता। विरला ही ज्ञानी संत पुरुष ऐसा कर पाता है, अन्यथा एक के बाद एक आशा बढ़ती जाती है, उसे कहीं विराम नहीं मिलता।

धनादि की आशा में मोह और आकुलता की दृढ़ता- धन की भी आशा बड़ी बुरी होती है। अब इतना धन हो गया, अब इतना हो गया, अब इतना और होना चाहिए, यों आशावश सन्तोष कहाँ जगता है? तो धन की आशा का भी बड़ा फैलाव होता है और धन की आशा का फैलाव होता है त्यों त्यों मोह की गाँठ और भी दृढ़ होती चली जाती है, शरीर वृद्ध हो जाता है। तो वृद्ध शरीर के होने का अर्थ तो यही है कि अब शरीर जलाने योग्य होगा इसका मरण होगा, मगर कितना भी जीर्ण शीर्ण शरीर हो जाय, शरीर की आशा, शरीर का आराम हर एक कोई चाहता है। तो जब तक यह आशा फैलती रहती है तब तक मोह की गाँठ भी दृढ़ हो जाती है। दुनिया में केवल मोह का ही तो दुःख है, और कोई दुःख हो तो बतावो। सब अकेले-अकेले हैं, अपने-अपने स्वरूप के धनी हैं, किसी का किसी पर से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक पदार्थ है जैसे वैसे ही यह आत्मा भी है, सत्

है। जो चीज सत् है उसका कभी विनाश नहीं होता, वह सदैव रक्षित है, कोई भी चीज अरक्षित नहीं है। चीज है, सदा रहेगी, चाहे किसी रूप रहे, अरक्षा तो हमारी यह है कि जो हम विकारभाव की ओर लगते हैं, विकल्प में बहते हैं यह है हमारी अरक्षा। स्वरूप से तो हम मिटेंगे नहीं, हम दुःख बनाते रहते हैं, आकुलित रहते हैं यह हमारी अरक्षा है, दुःख दूर हो जायें, आकुलता नष्ट हो जाय फिर हम स्वरक्षित ही हैं। स्वरूप से स्वरक्षित तो हम सदैव से है, कभी मेरा विनाश नहीं हो सकता, बस हम चाहते यही कि मुझे आकुलताएँ न उत्पन्न हों। मोह भाव मिटे तो आकुलता दूर हो।

मोह मिटे बिना शान्ति की असंभवता- पशु, पक्षी, मनुष्य सभी इस मोहवश दुःखी हैं। सभी जीवों का दुःख एक ही ढंग का है। भले ही उनके विषय में फर्क है, मनुष्य मनुष्य के बच्चे से प्रेम करता, मकान महल की चिन्ता है, धन वैभव जोड़ने की चिन्ता है, मनुष्य का मोह मनुष्य के ढंग का है, पक्षियों का मोह पक्षियों के ढंग का है, पक्षी भी अपना घोंसला बनाते और अपने बच्चों से प्यार करते। तो पक्षी भी मोह करते हैं, मनुष्य भी मोह करते हैं। तो सभी जीवों के दुःख का कारण यह मोह है। मोह मिटे तो फिर कोई क्लेश ही नहीं है। अपने आपमें अंदाज लगाकर देख लो, जब अपना ऐसा अनुभव चले कि जगत में मेरा कोई कुछ नहीं है, अन्य किसी से सुख नहीं होता, बल्कि अन्य पदार्थ में स्नेह जगाने का फल केवल क्लेश है। भले ही कल्पनावश हम थोड़ा मौज मान लें, किसी से स्नेह करने का परिणाम केवल क्लेश ही निकलता है और खुद अनुभव कर लेते हैं कि स्नेह के फल में अन्त में क्लेश ही तो मिला। खूब अपनी घटनाओं का स्मरण कर लो तो जब सम्यग्ज्ञान बने और परपदार्थों की आशा मिटे, मोह दूर हो तो आत्मा को शान्ति मिल सकती है। यही सीखने के लिए हम प्रभु के दरबार में आते हैं, प्रभु की पूजा करते हैं, गुणगान करते हैं, साधुजनों की संगति करते हैं ताकि मुझमें भी वही गुण प्रकट हो जायें। तो इन गुणों के विकास रोकने वाला है मोहभाव। यह मोह मिटे तो परिग्रह की ममता दूर होगी, इस ममता के दूर होने से यह जीव सुखी हो जायगा।

श्लोक- 859

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति।
ततो निबद्धमूलाऽसौ पुनच्छेतुं न शक्यते।।

निरोध की ओर उपयोग न होने से आशा का विश्वप्रसर्पण- यदि इस आशा को न रोका जाय तो यह आशा कहाँ तक फैलेगी? समस्त लोक पर्यन्त फैल जायेगी। जैसे कोई बेल होती है, उस बेल को न रोका जाय, उसे रास्ता मिलता जाय तो वह फैलती चली जायेगी, उसकी सीमा है मगर एक दृष्टान्त दिया कि यह बेल बढ़ती चली जायेगी लेकिन आशा तो ऐसी बुरी बेल है कि इसे न रोका जाय तो समस्त लोक पर्यन्त बढ़ती चली जायेगी। अर्थात् मनुष्य पहिले थोड़ी आशा करता है, क्योंकि उसकी बुद्धि अभी थोड़ी चल रही है। अधिक धन भी कुछ होता है इसकी उसे पहिचान ही नहीं है। जब मनचाहा धन मिल जाता है तब यह पहिचान होती है कि इसमें भी अधिक वैभव हुआ करता है, फिर उसकी आशा करता है। यों आशा कहाँ तक करते जाते कि सारा लौकिक वैभव मुझे मिल जाय यहाँ तक आशा कर डालता है, तो इस आशा की बेल को यदि रोका न जाय तो लोकपर्यन्त यह फैल जाती है, और फैल ही जाय इतनी ही बात नहीं किन्तु उससे इसका मूल और दृढ़ होता जाता है। बेल जब ताजी है तो उसकी जड़ उतनी गहरी नहीं होती। ज्यों ज्यों बेल फैलती जायेगी त्यों त्यों उस बेल की जड़ दृढ़ बनती जायेगी। जब आशा की जड़ मजबूत बन जाती है फिर इसकी गाँठ कठिन होती जाती है, अतएव आशा जमे तो तत्काल यथाशीघ्र उसको रोकने का, काटने का, नष्ट करने का, ध्यान रखना चाहिए, आशा फैल जायेगी, आशा की जड़ मजबूत हो जायेगी तो फिर इसका निवारण करना कठिन है। देख ही तो रहे हैं, घर-घर में अनेक लोग दुःखी हैं। उन सबके दुःखी होने का कारण है स्त्री पुत्रादिक में मोह भाव का होना है। कभी बड़ा क्लेश मिलने पर सोचते तो हैं कि मैं इन सबको छोड़कर चला जाऊँ लेकिन ऐसा कर नहीं पाते हैं। हाँ ज्ञान और वैराग्य इतना उत्कृष्ट जगा हो और फिर उसके परित्याग की वाञ्छा बनें तो त्याग कर सकते हैं, मगर कषायवश रूसकर, ईर्ष्यावश, वेदनावश चाहें कि मैं इन सबको छोड़ दूँ तो छोड़ नहीं सकते। और, छोड़ देंगे तो उससे भी बहुत कष्ट पायेंगे। तो जब तक ज्ञान और वैराग्य दृढ़ नहीं बनता तब तक परिग्रह को कोई छोड़ नहीं सकता। ऊब कर छोड़ना छोड़ना नहीं कहलाता उसमें फिर क्लेश होगा। तो यह आशा ज्ञानशस्त्र से काटी जा सकती है। क्या आशा करते हो? किस पदार्थ की आशा करते हो? ये सभी पदार्थ भिन्न हैं। इनके संग रहने से इनका परिग्रह रहने से कुछ आत्मा में आनन्द प्रकट नहीं हो जाता। आनन्द तो आत्मा का अपने आपके आत्मा में बसा है। जहाँ लोकेषणा जगी, लोग मुझे अच्छा जान लें, इस प्रकार की जहाँ वासना उत्पन्न हुई कि लो अब कष्ट आने लगे। तो कष्टों को लोग जानबूझकर बुलाया करते हैं अज्ञानवश।

ज्ञानार्जन व सत्संग के उपाय से आत्मोद्धार के यत्न का अनुरोध- शान्ति के अर्थ यह अवसर चाहिये कि ज्ञान बराबर अपना ठीक बना रहे और वह बना रह सकता है सत्संग से। सत्संग में निरन्तर बना रहे, और फिर ज्ञान सही बना रहे तो फिर उसे कोई कष्ट नहीं है। सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करें और

आशा का अंकुर न उगने दें, इस उत्पन्न होने वाली आशा को शीघ्र नष्ट कर दें, इस उपाय से आत्मा का कल्याण बन सकता है। इसके लिए चाहिए खूब ज्ञान का अर्जन और सद्गनों का सत्संग। लोग चाहते हैं कि मेरा कल्याण हो पर कल्याण के सुगम उपाय ये दो हैं- खूब ज्ञान का अर्जन किया जाय, स्वाध्याय करके अपने से अधिक पढ़े लिखे पुरुषों को गुरु मानकर उनसे अध्ययन करें और सत्संग बनाये रहें। संग का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। संसार के जीवों को ये पाप के व्यसन तो अपने आप रुच ही रहे हैं। अनादिकाल से व्यसन और पापों की ओर इस जीव की दृष्टि लग रही है और फिर मिल जाय कुसंग, ऐसे ही व्यसनी पापी खोटे पुरुषों का संग तो फिर पतन में क्या विलम्ब रहता है? बहुत बड़ा वैभव यही है कि अपन को सत्संग मिलता रहे, संतपुरुषों का समागम मिलते रहने से उसमें बुद्धि व्यवस्थित रहेगी और जहाँ बुद्धि ठिकाने रही तो अपने आप सभी पदार्थ इस तरह लगने लगेंगे कि जिससे इस लोक में भी कष्ट न होगा और भविष्य में भी कष्ट न होगा। हमें करना चाहिए सत्संग और ज्ञानार्जन। इन दोनों उपायों से आशा को नष्ट करें और अपने आपमें सत्य विश्राम पाकर आत्मध्यान द्वारा आत्ममग्न होकर अपनी सच्ची प्रसन्नता पायें।

श्लोक- 860

यद्याशा शान्तिमायाता तदा सिद्धं समीहितम्।

अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः॥

आशा के शमन में समीहितसिद्धि- यदि ऐसी शान्ति प्राप्त हो जाती है तो फिर समझिये कि उसी समय सर्व मनोवाञ्छित कार्यों की सिद्धि हो जाती है। मन में कोई इच्छा न पैदा होना यह समस्त मनोवाञ्छित सिद्धि का देने वाला है, जो चाहा सो मिल गया। जब हम कुछ चाहे ही नहीं, कोई आशा न रखें तो हमें सब कुछ मिल गया। यदि हम चाह रखते हैं, आशा करते हैं तो जिसकी चाह रखी वह तो है ही नहीं, अन्यथा चाह किसकी कर रहे? तो चाह के मिटने पर सब कुछ मिटता है और चाह के रहने में स्पष्ट ही है कि वह चीज नहीं मिली हुई है। यदि आशा शान्त हो जाय तो समझिये कि समस्त मनोरथ शान्त हो गए, और यदि आशा शान्त नहीं हुई तो फिर यह संसार से उत्पन्न हुआ दुःखरूपी समुद्र दुस्तर हो जायगा, तिरा न जा सकेगा अर्थात् संसार का दुःख मिट न सकेगा। भ्रम में यही तो हो रहा है कि जिस कुबुद्धि से क्लेश आते हैं उसी कुबुद्धि का प्रयोग करते

हैं। तो जैसे खून से रंगा हुआ कपड़ा कोई खून से ही धोना चाहे तो क्या वह धुल सकेगा? नहीं धुल सकता, वह तो और दगीला बन जायगा, ऐसे ही इच्छाओं से तो दुःख उत्पन्न होता और उन दुःखों को शान्त करने के लिए हम इच्छा जगारें तो दुःख शान्त होगा क्या? दुःख तो बढ़ेगा। तो हे प्रभो ! मेरे में ऐसी सुगति जगे कि किसी भी परपदार्थ की मुझमें वाञ्छा न उत्पन्न हो। निरीहता की चाह होती है ज्ञानी पुरुष के। जबकि अज्ञानी अपनी सुख समृद्धि के लिए वैभव की चाह करता रहता है और उस चाह में उसे दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।

परिग्रहसम्बन्ध का परिहार करके ही संतजनों द्वारा शान्ति का उपलम्भ- थोड़ा समागम है धन का तो वहाँ थोड़ा क्लेश है। जब बहुत समागम हो जाता तो बहुत क्लेश है। काहे के लिए इतना अधिक क्लेश जोड़ना? किसको प्रसन्न करना चाहते हो? कौन यहाँ तुम्हारा ईश्वर है? तुम किसी को प्रसन्न नहीं कर सकते। दो प्रसन्न होंगे तो दो अप्रसन्न होंगे। संसार में ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे संसार के सभी जीव हम पर प्रसन्न हो जायें और मान लो हो गए कुछ लोग प्रसन्न, तो तुम्हारे आत्मा का उससे क्या हित हो जायगा? प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप अभेद्य है। किसी भी पदार्थ में कोई दूसरा पदार्थ कुछ प्रसन्नता नहीं कर पाता ऐसे सर्वपदार्थ अपने अपने स्वरूप में मौजूद हैं। जब हम किसी भी पर में कुछ नहीं कर पाते, कोई भी पर जीव मुझमें कुछ नहीं कर सकता तो फिर ये व्यर्थ के श्रम संचय के, वैभव के, यश बढ़ने के, नामवरी करके ये सब प्रयत्न मूढ़ता नहीं तो फिर क्या है? यह मोहभाव मिटे और आत्मा में ज्ञान जगे तो आत्मा को शान्ति मिलेगी, पर के मोह में आत्मा को त्रिकाल भी शान्ति नहीं मिल सकती। पुराणों में पढ़कर देख लीजिए। वर्तमान के लोगों को देख लीजिए, मोह करके किसने सुख पाया? रामचन्द्र जैसे महापुरुष जिनके विषय में सब लोग एक मत होकर श्रद्धा से देखते हैं ऐसे प्रभु राम भी जब तक विरक्त नहीं हुए घर में बसते रहे तब तक यह बतलावो कि उन्होंने कौन लोकव्यवहार में माना जाने वाला सुख पाया? प्रथम तो स्वयंवर के समय ही कितने और प्रतिद्वन्द्वी खड़े हो गये। सीता का विवाह हुआ तो उसके बाद ही उन्हें और और तरह की विपत्तियाँ आयी। जब राजतिलक होने को था तो एकदम भरत को राज्य होगा यह हुक्म दिया गया। रामचन्द्र को वनवास हुआ। वन में क्या वे विश्राम से रहते थे? अरे जंगल तो जंगल ही है लेकिन वहाँ भी पुण्यानुसार कोई न कोई राजा महाराजाओं का आदर पाते रहे, यह उनके पुण्यविशेष की महिमा है। लेकिन वहीं सीता का हरण हुआ उसके वियोग में क्लेश पाया, यों और और भी क्लेश पाये। तो बड़े-बड़े पुरुषों ने भी पुण्य के प्रभाव में कष्ट ही पाया। तो यह आशा जैसे जैसे फैलती है वैसे ही वैसे क्लेश होता है, मोह की गाँठ दृढ़ होती है, ऐसा सच्चा ज्ञान और वैराग्य जगे, परिग्रह का सम्बन्ध टूटे, अपने आपमें अपना ध्यान करने की धुन

बने, स्वयं लीन होकर निर्मल और प्रसन्न रह सकें यह कला जग जाय आत्मा में तो हमारा क्लेश दूर हो सकता है, पर की आशा में, पर की भीख में आत्मा को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

श्लोक- 861

यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च।

विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका॥

आशा की महाविघ्नरूपता- जितने भी हित करने वाले सम्यग्ज्ञान हैं उनमें बाधा डालने वाली आशा है। किसी से कहा जाय कि तुम अमुक व्रत लो, आजीवन पालो अथवा कुछ दिन नियम करके पालन करे तो उसका भाव नहीं होता, क्यों नहीं होता कि आशा लगी हुई है। आशा का जहाँ भाव होता है वहाँ व्रत नियम का पालन नहीं किया जा सकता है। शान्ति वहाँ नहीं है, जहाँ आशा लगी है, जो सामने चीज न हो उसकी आशा की जाती है। अनिश्चित चीज की आशा है तो उस ही ओर धुन है, उसके प्रति अनेक चिन्ताएँ हुआ करती। यों आशा जिन्हें रहती है उन्हें शान्ति का साम्राज्य कैसे हो सकता है? जहाँ आशा है वहाँ सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता। यद्यपि मेरा स्वरूप सिद्ध समान है, अनन्त शक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द का निधान है, लेकिन एक आशा के वश होकर सारा सम्यग्ज्ञान खो दिया। जब सम्यग्ज्ञान नहीं रहा और आशा की भीख रही आयी तो यह अज्ञान ही तो रहा। जहाँ आशा होती है वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं बनता। विवेक का विनाश करने वाला भी आशा का भाव है। जहाँ आशा है वहाँ विवेक नहीं रहता। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए इस ओर चाहे बहुत कुछ भी सोच लिया जाय, अनेक बातें चित्त में आयें, अमुक काम से मेरा हित है, अमुक काम मुझे करना चाहिए, लेकिन जब आशा का भाव उदित होता है तो वह सब विवेक भूल जाता है। तो आशा विवेक का भी विनाश करने वाली है। आशा नष्ट हो जाय तो सर्व सिद्धियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अपने आपमें निरखो, अपने स्वरूप में कहाँ क्लेश है? यह आत्मा समस्त वस्तुओं से न्यारा है या नहीं, खूब निरख कर लो, क्या यह जीव घर से मिलाजुला है अथवा ईंट मकान से तन्मय है, अथवा जो परिजन हैं उनमें क्या यह आत्मा तन्मय है? कोई सम्बन्ध तो नहीं है। सब अपना-अपना परिणमन करते हैं, सबका अपना-अपना भवितव्य है, निमित्तनैमित्तिक योग है। सब अपने उपादान से ही अपना कार्य करते चले आ रहे हैं। सम्बन्ध तो कुछ नहीं है फिर यह आशा का भाव क्यों आता? मेरा अमुक यों बन जाय, अमुक यों बन जाय,

ऐसी आशा क्यों जगती है? जब किसी परपदार्थ से इस जीव का कुछ सम्बन्ध नहीं तब आशा क्यों होती है? उस आशा के होने का कारण है अज्ञान। नहीं पहिचाना अपना स्वरूप, नहीं जान पाया सर्व पदार्थों को न्यारा-न्यारा, इसलिए आशा जगती है।

आशा के रहते हुए सुख की नितान्त असंभूति- कोई कितना भी धनी हो, जो वर्तमान में धन है उसका उसे सुख है नहीं, क्योंकि उससे अधिक के लिए आशा चल रही है? जहाँ आशा जगती हो वहाँ आनन्द कहाँ से आ सकता है, सन्तोष कैसे हो सकता है? और आशा फैली अवश्य है समस्त लोकभर में, अर्थात् सारे लोक की इसको आकांक्षा उत्पन्न होती है, किन्तु जीव तो है अनन्त चाहने वाले। यह लोक किस किस के बटवारे में जाय? अथवा ऐसा होता ही नहीं है कि लौकिक वैभव किसी एक के पास आ जाय, पर चाह रही है इसे समस्त लौकिक वैभव की। अतएव यह दुःखी होता है। तो आशा ही समस्त सुखों का विनाश करने वाली है। यह जीव आशा करने के लिए नहीं पाया, पदार्थों का संग्रह करने के लिए नहीं पाया। यह जीवन विश्वर है, इस जीवन से कोई अविनाशी कार्य का प्रोग्राम बनायें तब तो वह भली बात है। वह प्रोग्राम हो सकता है आत्मशान्ति का, सम्यग्ज्ञान का। मेरे वह ज्ञान प्रकट हो जिसके प्रकट होने पर फिर शीघ्र ही समस्त कल्याण हो जाते हैं। लोग बड़े-बड़े व्यापार करते हैं, पर यह एक आत्मव्यापार नहीं करते। जैसे पहिले कोई फैक्टरी खोलता है तो पहिले उसमें 10-5 लाख रुपये खर्च करता है। काम चल जाने पर 10-5 वर्ष बाद में उसे बहुत अधिक आय होने लगती है, तो बड़ा लाभ पाने के लिए पहिले बड़ा त्याग करना होता है। यदि अनन्तकाल तक के लिए हम शान्ति का लाभ चाहें तो पहिले बड़े-बड़े त्याग करने होंगे। उस ही उपाय में यह बताया है कि आशा का विनाश करें।

श्लोक- 862

आशामपि न सर्पन्ती यः क्षणं रक्षितुं क्षमः।

तस्यापवर्गसिद्धयर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम्॥

आशा के क्षणभर भी निवारण में असमर्थ प्राणियों के मुक्तिश्रम की व्यर्थता- जो पुरुष बढ़ती हुई आशा को क्षणभर में रोकने में असमर्थ हैं उनके मोक्ष की सिद्धि के लिए परिश्रम करना व्यर्थ है। जो क्षणमात्र भी आशा को नहीं रोक सकते, जो मन में आया वह तुरन्त हो ही जाना चाहिए ऐसी जिनके अस्थिरता बनी रहती है, इन सांसारिक कार्यों में, सांसारिक लाभों में जिनकी आशा की

प्रचुरता रहती है चित्त में आया कि अमुक पदार्थ खाना है तो तुरन्त बनवाकर खाते हैं, चित्त में किसी विषय के भोग की प्रचुर आशा को नहीं रोक सकते हैं वे मोक्ष के लिए क्या पुरुषार्थ कर सकेंगे? उनके वे गुण मन बहलाने के लिए या लोक में अपने धर्मात्मापन की बात रखने के लिए होते हैं। वे कुछ श्रम भी करें तो उनका वह श्रम करना व्यर्थ है। प्रथम तो यह विमर्श कीजिए कि यह आशा एक विकार है, जीव में दुःख के लिए उत्पन्न होती है। इसको नष्ट करना अच्छा है मान लो थोड़ी देर को आपको सिनेमा देखने का भाव जगा, एक आशा लग गयी कि हम सिनेमा देखें, अगर न देखें सिनेमा, उस आशा को मिटा दें तो उससे नुकसान क्या हुआ? शान्ति तुरन्त हो गयी। ऐसी ही समग्र विषयों की बात है। हम आशा के वश न हों तब तो हमारा मोक्ष के लिए पुरुषार्थ चल सकता है, यदि हम आशा के वशीभूत हुए हैं तो धर्मपालन वहाँ नहीं हो सकता। आशा से ही परिग्रह बढ़ता है, अथवा आशा ही परिग्रह है। ये बाह्यपदार्थ रहें न रहें, कैसे ही हों वह परिग्रह नहीं कहलाता, किन्तु उनमें मूर्छा परिणाम जगना यही परिग्रह है। यह आशा से होता है, और जिसे परिग्रह लगा है वह अपने आत्मा की सुध नहीं रख सकता। जो आत्मा का ध्यान नहीं कर सकते उन्हें मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। सदा के लिए संसार के संकट छूट जायें यह तो सम्यग्ज्ञान से ही सम्भव है।

भगवन्तों की निरीह अपार कृपा- हम भगवान के इतने कृतज्ञ क्यों हैं? उनका समारोह मानते हैं, उनका गुणगान करते हैं, सारा विश्व उनका कृतज्ञ है, इसका कारण क्या है कि प्रभु ने समस्त विश्व को वह उपदेश दिया जिस उपदेश पर चलकर हम सदा के लिए संसार के संकटों से छूट सकते हैं। भला यदि एक ही भव के कुछ थोड़े से संकट मिट गये, धन वैभव जुड़ जाने से क्षुधा आदिक की वेदनाएँ शान्त कर ली, कोई प्रकार की तकलीफ नहीं रही पर ये विषयकषाय तो अभी नहीं टले। भगवान महावीर स्वामी ने ऐसा उपदेश दिया कि वह कार्य यहाँ कर जावो कि फिर सदा के लिए सारे संकट टल जायें। और, ऐसा ही उपाय अनन्त तीर्थकरों ने बताया। जो सत्य बात है वह सदा एक ही रहती है। जो उपदेश महावीर प्रभु ने दिया है वही उपदेश उनके पहिले जितने तीर्थकर हुए उन्होंने किया, वही उपदेश समस्त विदेहों में तीर्थकर किया करते हैं। जो सत्य बात है, जो अनादि से स्वरूप पाया जाता है, जिनके सम्यग्ज्ञान हुआ है वह तो एक ही समान जानेगा। अनन्त तीर्थकरों ने वस्तु का स्वरूप सही-सही जाना और वैसा ही उनकी दिव्यध्वनि से प्रसारित हुआ, तो उनके उपदेश से हमें वे उपाय मिले कि जिन उपायों से चलकर हम सदा के लिए संकटों से छूट सकते हैं। उनके इन उपायों में सर्वप्रथम उपाय है भेदविज्ञान। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझ ले उसका सही स्वरूप समझ ले, यही है भेदविज्ञान। यह भेदविज्ञान हमारे मोक्ष का प्रथम साधन है।

वस्तुस्वरूप समझने का भागवत उपाय- वस्तु का स्वरूप क्या है कैसे हम जानें कि यह वस्तु सही है? स्याद्वाद से। अनन्त भगवन्तों ने पदार्थों के जानने का उपाय स्याद्वाद बताया है। स्याद्वाद का अर्थ है स्याद मायने अपेक्षा से, वाद मायने कहना। कोई अपेक्षा रखकर उस धर्म का उपदेश दिया जाय तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद में पूर्ण निर्णय बसा हुआ होता है, संशय नहीं रहता है। जैसे लोक में किसी युवक का परिचय दिया जाता है तो यों ही कहा जायगा न कि यह अमुक का लड़का है, इसमें ही और लगा दिया जाय तो हो गया- यह अमुक का लड़का ही है। यही निर्णय हुआ और यही सच है, और जब यों कहा जायेगा कि यह अमुक का पिता ही है तो वह भी सच है। पिता की दृष्टि से पुत्र बताना और पुत्र के मुकाबले पिता बताना इसमें पूर्ण निर्णय भरा हुआ है। स्याद्वाद उपाय बताया वीर प्रभु ने पदार्थों का यथार्थज्ञान करने में। समस्त पदार्थों का अपना अपना स्वरूप होता है। स्वरूप रहित कोई पदार्थ नहीं है। स्वरूप ही नहीं तो उसका सत्त्व क्या? यदि कुछ है तो उसका स्वरूप भी तो होगा। प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूप रखते हैं और स्वरूप मिलता है 4 बातों से, उसका पिण्ड, उसका क्षेत्र, उसका समय, अवस्था और उसका गुण। इस स्याद्वाद के द्वारा पहचानें कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से हैं पर के स्वरूप से नहीं। मान लो दो मित्र हैं अथवा बहुत दिल मिले हुए पिता पुत्र हैं, पिता अनेक उपाय करता है पुत्र को सुखी करने के लिए, मगर क्या पिता पुत्र के आत्मा के सुखरूप परिणम जायगा? नहीं परिणम सकता। वह पिता अपनी कल्पनाएँ बनाता है, कल्पनाएँ उसकी चीज हैं और कल्पनाओंरूप वह परिणम जाता है। यों प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से ही रहा करते हैं। यह वीरप्रभु के उपदेश से हमें स्याद्वाद मिला है और इस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने से ही यह विश्व वास्तव में कृतज्ञ बनता है। हम वीरप्रभु में इसीलिए कृतज्ञ हैं कि हम पदार्थ के सत्यस्वरूप की झलक कर लेते हैं। चाहे हम कर्मविपाकवश उस पथ में भी न चल सकें किन्तु झाँकी मिल गयी कि हमको इस पथ से चलना चाहिए। हमारा कर्तव्य इस मार्ग से चलने का है। झाँकी मिल जाना भी एक बहुत बड़े सन्तोष को उत्पन्न करता है।

निःसंकट आत्मा में संकट बसा लेने की भूल- संसार में जहाँ देखो वहाँ संकट ही संकट है। इस जीव के अज्ञान बसा है अतएव जीव ने संकट समझ रखा है। इष्ट का वियोग हो गया, अब मान लिया कि मुझ पर बड़ा संकट छाया है। अरे संकट क्या है? तुम तो पूरे के पूरे हो। यह दुनिया आनी जानी है। अभी यहाँ बैठे हो, कल को न जाने कहाँ चले जावोगे, यह तो संसार की रीति है। यह तो पदार्थ का परिणमन है, संकट क्या आया सो बतलावो? पर दिल में स्नेह बसा था संकट बना लिया। स्नेह से इस जीव को कुछ भी लाभ होता हो तो परख लीजिए, निर्णय कर लीजिए। किस जीव को चाहे वह स्वजन हो, चाहे मित्र हो, किसी से भी स्नेह परिणाम करने से कुछ भी लाभ मिलता हो तो अन्तर में दृष्टि देकर निर्णय कर लें। कैसा ही कोई स्वकीय हो, सगा

हो, पुत्र हो, मित्र हो, स्त्री हो, कोई हो किसी में स्नेह भाव जगाने से इस आत्मा को कोई लाभ मिलता हो तो ढूँढ़ निकालो। केवल एक विषयों के साधन की यदि बात कहोगे कि किसी से स्नेह करने से हमारे इन्द्रिय और मन के विषयों का साधन मिल जाता है, तो वह क्या लाभ की बात है? अरे ये सब स्वप्नवत् बातें हैं, मायारूप है, इसी तरह यहाँ भी जो समागम मिले हैं वे सब निपट मायारूप हैं, जो दृष्टिगोचर होता है, जो यह अवस्था बनी हुई है इसे एक व्यापक दृष्टि से विचार करो तो यह स्पष्ट विदित होगा कि इससे रंच मात्र भी लाभ नहीं है। यहाँ जो एक दूसरे के स्नेह का भान किया जाता है इससे भी रंच लाभ नहीं है। इन्द्रिय के विषयों का साधन मिलना, मन के विषयों का साधन मिलना यह सब मायारूप है, और इस जीव को संसार में भटकाने वाला है। स्नेह करके इस आत्मा को कोई लाभ नहीं मिलता है।

आशा के परित्याग में अन्य सब हितसाधनों की सुगमता- जब श्रीरामचन्द्रजी के दरबार में उनका सेनापति कृतान्तवक्र यह बोला कि हमें तो इस संसार से उदासी आयी है, अब मैं यहाँ से जाऊँगा और मैं अब अपने इस पद का इस्तीफा देता हूँ और सर्वपरिग्रह का त्याग करता हूँ तब उसे अनेक लोगों ने समझाया, श्रीरामचन्द्रजी ने भी कहा कि अचानक तुम ऐसा व्रत धारण करने की क्यों ठानते हो? यह बड़ा दुर्धर व्रत है, मुश्किल से पालन हो पाता है, तो कृतान्तवक्र ने कहा कि हे प्रभु ! जब हम आपके स्नेह का त्याग कर रहे हैं तो इससे कठिन और बाकी तपश्चरण नहीं हो सकते। स्नेह का परित्याग कर देना, आशा का परित्याग करना इससे उत्कृष्ट और क्या तपश्चरण हो सकते हैं? तपश्चरण में तो सिंह भी आक्रमण करे, बड़े-बड़े शत्रु भी आक्रमण करें तो उन्हें भी समता से सहन करना पड़ता है। तो जो आशा का विष, स्नेह का विष जीवों में लबालब भरा हुआ है उस विष भरी हालत में कुछ ऊपरी-ऊपरी कार्य करके एक सामाजिक ढंग से, पाटी के ढंग से, मण्डली की पद्धति से कुछ धार्मिक कार्य करके अपने को सन्तुष्ट मान ले, हमने तो प्रभु का समारोह मना लिया, यह काम तो हमारा अच्छा भी बैठ गया। हमने कुछ किया यों हम सन्तोष कर लें तो जरा भीतरी दृष्टि से विचारों तो सही, जो आशा विष से, गहराई से लबालब भरा हुआ है, उसमें धर्म की गंध कहाँ से आ जायेगी? जब भेदविज्ञान की झलक ही न हुई हो, एक क्षण भी पर के विकल्प तोड़कर निज में आने की बात ही न आती हो ऐसे कठोर चित्त में, अहंकार भरे चित्त में गंध कहाँ से आयेगी?

वीर प्रभु ने आशा का सर्वथा परिहार किया था, और उनके चरित्र से मालूम होना चाहिए कि उन्होंने दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके इस आशा का परिहार किया और निःसंग परित्याग महाव्रत धारण करके समस्त आशाओं का परित्याग किया। आज हम उनकी मूर्ति की स्थापना करके

उस मूर्ति के समक्ष इतने विनय से रहा करते हैं, इतना आदर किया करते हैं वह सब किसका परिणाम है? भगवंत ने आशा का सर्वथा परिहार किया, जिसके कारण उनमें उज्ज्वलता बढ़ी, विकास बढ़ा, पूर्ण विकास हुआ, उसी से यह विश्व उनका सेवक बन रहा है।

भगवंतों के शासन से अपने अनुशासन की भावना- भगवंतों के उपदेश से हमें कुछ अपना भी अनुशासन सीखना चाहिए। मैं भी अब इस आशा का सर्वथा परिहार कर सकूँगा और विकार रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव करूँ, ऐसी अपनी भी तो इच्छा होनी चाहिए। भला इस कुटुम्ब में ही, इस वैभव में ही आशा लगा लगाकर स्नेह बना-बनाकर जीवन पूरा करने में लाभ क्या पा लगे? कुछ सोचना तो चाहिए। बहुत काल जाता है स्नेह में, बहुत काल जाता है कषायों में, बहुत काल जाता है विषयविकारों में, तो क्या कुछ क्षण अपने को निर्विकार अनुभव करने में कठिनाई न होना चाहिए। जो चीज एक बार देख ली गई है वह तो वैसी की ही वैसी जानने में आया करती है। कितने भी अन्य-अन्य प्रसंग आयें, अपना उपयोग कुछ बदल भी जाय, लेकिन देखी हुई चीज अन्यथा गलत नहीं होती। इसी तरह सत् पुरुषार्थ से, स्वाध्याय से, सत्संग से, किसी भी प्रकार अपने आपका सही अनुभव जग जाय कभी, अनुभव जग जाने पर फिर कितने भी प्रसंग आयें उनकी प्रतीति नहीं टाली जा सकती है। तो करने का काम यही है, आशायें रखकर जीवन व्यतीत करना अपना कर्तव्य नहीं है। प्रभुवीर भगवान ने हम सब जीवों को यह उपदेश दिया जिस पर चलकर हम सदा के लिए संकटों से छूट सकते हैं, पर साथ ही यह भी समझें कि जो सर्वोत्कृष्ट उपदेश होते हैं उन उपदेशों की शैली में पद पद पर वे भी दुःखी रहते हैं जिससे हम अपना लौकिक जीवन भी सुखी बना सकें।

प्रभुभक्ति की वास्तविकता का आधार- हम प्रभु की याद करते हैं तो उनकी याद में हम एक यह शिक्षा लें, आज यह संकल्प करें कि हम अपने जीवन में सद्भावना बनायें रहेंगे। किसी भी जीव का हम बुरा न सोचेंगे, धर्म का कोई कार्य होता हो तो अपने नाम के खातिर अथवा उसमें नाम नहीं हो पाया, इससे कुछ बुरा मानकर उसमें विरोध करना यह अत्यन्त बुरी असद्भावना है, ऐसा असद्भाव न रखेंगे, और यह भावना करें कि जो भी लोग इस हितकारी धर्म की प्रभावना में जितना जो कुछ अपनी सामर्थ्य करके प्रभाव बढ़ाना हो बढ़ायें और उसमें प्रसन्नता मानें। परस्पर में किसी दूसरे के प्रति ईर्ष्याभाव न रखें, जितना बन सके सधर्मीजनों के संकट दूर करें, तन, मन, धन, वचन सब कुछ यथाशक्ति लगाकर अपने सधर्मीजनों के संकट दूर करें, और विशेष क्या बताया जाय? सम्यग्ज्ञान के 8 अंगों में हमें व्यवहार में क्या करना चाहिए यह सब कुछ दर्शा दिया है। प्रथम तो हम धर्म के तत्त्व में शंका न करें। जो प्रभु ने पथ बताया है उस पथ पर सन्देह न रखें।

अपने शरीर की पोजीशन के लिए मनचाही इच्छायें न बनायें। धर्मात्माजनों की सेवा में हम घृणा न करें। ग्लानि को छोड़कर हर सम्भव उपायों से हम धर्मात्मावों की सेवा करें। कभी किसी कुपथ से प्रभावित न हो जायें। मन में यह श्रद्धा रखें कि मुक्ति का मार्ग तो यह विज्ञान वीतरागता है। सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र का ही पथ संकटों से छुड़ाने वाला है। लौकिक चमत्कारों से प्रभावित होकर अपने भीतरी निर्णय को न बदलें। दूसरे के दोषों को प्रकट न करें अर्थात् निन्दा न करें। हम अपने गुणों को अपने मुख से न बोलें। कोई धर्मात्मा पुरुष किसी भी बात से पतित हो रहा हो उससे घृणा न करें, किन्तु जैसे वह धर्म में स्थिर हो सके वह उपाय बनायें। सधर्मीजनों से भी निष्कपट भाव रखें और अपना चारित्र बढ़ाकर अपना आचरण शुद्ध करके ईमानदारी से रहकर, न्यायवृत्ति से रहकर लोगों में धर्म की प्रभावना बढ़ायें, ये सब कार्य प्रभु ने बताये हैं। इन कर्तव्यों पर चलते रहेंगे तो लौकिक जीवन में भी हम कष्ट न पा सकेंगे। और परमार्थ पथ का तो मुख्यतया उन्होंने उपदेश किया ही है। हम आज अपने में यह संकल्प बनायें कि हे प्रभो ! मुझमें ऐसी सुमति जगे कि सद्भावना ही बर्तती रहे। सब जीवों के हित के लिए हमारा भाव बना रहा करे, किसी के हम विरोधी न बनें, निन्दक न बने। हे प्रभो ! हममें ऐसी सद्बुद्धि बने और उस ही शुद्ध आचरण पर चल सकें तो हम प्रभु के सच्चे मायने में भक्त कहला सकते हैं।

श्लोक- 863

आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी।

आशा मूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम्॥

आशा की सकलदुःखमूलता- संसारी जीवों की आशा ही इन इन्द्रियों को उन्मत्त करने वाली मदिरा है और आशा ही विष को बढ़ाने वाली मंजरी है। जितने भी जिसे क्लेश होते हैं वे सब आशा से होते हैं। जीव तो स्वभाव से ज्ञानानन्दस्वरूप है किन्तु अपने स्वभाव का दृढ़ परिचय न होने से स्वभाव में विश्राम तो नहीं हो पाता और आराम विश्राम की ही इसकी प्रकृति है। कहीं न कहीं यह रमण करना चाहता है। सो अपना धाम तो इसे मिला नहीं तब बाह्य में परवस्तुवों की ओर जाता है, आशा करता है। तो परवस्तु की आशा ही इसकी इन्द्रिय को उन्मत्त करने वाली है। इन इन्द्रियों को जितना प्राप्त विषय बरबाद नहीं करते जितना कि अप्राप्त विषयों की आशा बरबाद करती है। इस जीव में न तो परपदार्थों के भोगने की क्षमता है और न परपदार्थों के त्यागने की

क्षमता है। प्राप्त समागम से जीव उतना बरबाद नहीं होता बल्कि कभी कभी तो पछतावा करता और अपने सत्यपथ पर ले जाता है लेकिन अप्राप्त विषयों की जो आशा लगी रहती है जीवों को वह प्रमत्त करने वाली मदिरा है। आशा ही विष को बढ़ाने वाली मंजरी है। संसार के सारे क्लेश आशा के आधार पर है। सभी क्लेशों का विचार कर लीजिए, सभी के क्लेशों के कारणभूत यह आशा है। आशा न हो तो क्लेशों का यहाँ नाम ही न रहेगा। ऐसा जानकर आशा का प्रतिषेध करे जिससे परिग्रह के सही मायने में त्यागी बनें। और, परिग्रह के त्याग से फिर आत्मध्यान की पात्रता जगे, आत्मा का ध्यान बन सके। लोक में आत्मध्यान ही शरण है, ऐसे शरणभूत अंतस्तत्त्व को पाने के लिए हम आप सबको परिग्रह त्याग के संकल्प की भावना आवश्यक है।

श्लोक- 864

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता।
महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्ण क्लेशसागरः॥

आशा नष्ट करने वालों के ही क्लेशसंसार की उत्तीर्णता- जिन लोगों ने इस आशारूपी राक्षसी को नष्ट कर दिया है वे पुरुष धीर, वीर और सुखी हैं। महापुरुषों में और साधारण पुरुषों में एक यही तो अन्तर है, जिनके आशा लगी है वे हैं साधारण पुरुष और जिन्होंने आशा का परिहार कर दिया वे हो जाते हैं महापुरुष। महापुरुषों की और पहिचान क्या है? कोई शरीर का ऊपरी चिन्ह ऐसा नहीं है कि जिसे देखकर समझ लिया जाय कि यह महापुरुष है। महापुरुष का परिचय तो नैराश्य से है। जिसके आशा बस रही है वह है लौकिक पुरुष। जो आशा के दास है, वे पुरुष धैर्य कहाँ धारण कर सकते हैं? आशा जगती है और धैर्य टूट जाता है। किसी भी काम की आशा हो, धन वैभव की, यश प्रतिष्ठा की, विषयसाधनों की इत्यादि, तो वहाँ धैर्य नहीं रहता और आत्मा में वीरता भी नहीं रहती। वीरता तो वह है कि कोई क्षोभ उत्पन्न न हो। जो बलवान पुरुष होते हैं उनको क्षोभ नहीं उत्पन्न होता है, इसी के मायने तो बलवत्ता है। तो वास्तविक बलवत्ता वह है जहाँ क्षोभ उत्पन्न न हो। जहाँ आशा लगी है वहाँ यह बल नहीं प्राप्त होता। जिनके आशा लगी है उसके सुख भी नहीं है। वर्तमान में है कुछ वैभव लेकिन इससे आगे के वैभव की आशा लगी है तो सारा ज्ञान उस अप्राप्त विषय में पहुँच गया। प्राप्त समागम का अब सुख क्या रहा? जैसे कोई खाने का तृष्णालु है तो जो भोजन कर रहा है उसका भी उसे सुख नहीं मिल रहा है क्योंकि उसको अन्य

स्वादिष्ट भोजन पर दृष्टि है। तो अन्य वस्तु पर दृष्टि होने से भोगे जाने वाले विषय भी सुखकर नहीं हो पाते। यह आशा समस्त सुखों पर पानी फेर देती है। जो पुरुष इस आशा पर विजय कर चुके हैं वे ही धीर, वीर और सुखी होते हैं। जिन पुरुषों ने इस आशा का विनाश किया है वे पुरुष इस दुःखरूपी संसारसमुद्र से पार हो जाते हैं। हे आत्मन् ! प्रायः रातदिवस किसी न किसी पदार्थ की आशा बसा बसाकर अपने को परेशान कर देते हो। कभी 10-5 मिनट तो इस आशारहित निज ज्ञानस्वरूप की उपासना तो करो। यह आशा क्यों जगती है? यह आशा मेरी चीज तो नहीं है, मेरे स्वरूप में तो नहीं है आशा। मैं तो प्रभुवत् ज्ञानानन्दस्वरूप का पुञ्ज हूँ। यह आशा राक्षसी क्यों जगती है ऐसा एक ध्यान बनाकर जरा आशारहित ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व का ख्याल तो कर लो। समस्त कष्ट दूर हो जायेंगे। दुःखरूपी संसारसागर से पार हो जावोगे। जितने क्षण आशारहित होकर निजज्ञानस्वरूप के ध्यान में व्यतीत हो जायें उतने क्षण तो सफल हैं, इससे अतिरिक्त जो कुछ परतत्त्वों का आकर्षण बने, आशा बने वे सब तत्त्व बेकार हैं। यहाँ के ये सब लोग मायारूप हैं, इनसे मेरा कुछ हित नहीं। मुझे बाहर में किसी की आशा नहीं करना है, अपने अन्दर ही अन्दर गुप्त होकर एक ज्ञानानन्दस्वरूप की आराधना का अमृत पीना है। यह मैं आत्मा अविनाशी हूँ, अमर हूँ, ऐसा भाव बनते रहने का नाम है अमृत का पान करना। जो न मरे ऐसे स्वरूप को उपयोग में लेना यही वास्तविक अमृतपान है। जो पुरुष आशा से दूर होते हैं वे इस अमृत का पान करते हैं। वे दुःखरूपी संसारसमुद्र से नियम से पार हो जाते हैं।

श्लोक- 865

येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमालंब्य शिवीभूता मनीषिणः॥

आशावान् हृदय में शुद्धि का अभाव- जिन पुरुषों के आशा लगी है उनके मन की शुद्धि कैसे होगी? जिन्हें सुख चाहिए उन्हें अपने आप पर बड़ा भरोसा रखना होगा। कैसी भी परिस्थिति आ जाय वहाँ यही समझना होगा कि मेरा कुछ नहीं गया। मेरा कुछ बिगाड़ नहीं हुआ। जरा जरा से बिगाड़ पर अपने को चिन्तातुर बना लेना यह कहाँ की बुद्धिमानी है? संसार के बिगाड़ों का कोई लेखा भी है क्या? किसी परिवार में धन भी मिट जाय, लोग भी गुजर जायें, वृद्धावस्था वाला कोई बूढ़ा बच गया, न धन रहा, न कुटुम्ब रहा उसे तो कम से कम यह कह लो कि मेरी अपेक्षा यह

ज्यादा दुःखी है। अनेक आशाएँ ऐसी गड़बड़ हो जाती हैं कि जिससे अधिक बिगाड़ इस जीव का हो जाता है। तो संसार तो बिगाड़ों का घर है। यहाँ कि किसी बात को अनोखी क्यों समझते हो? कोई सेठ किसी अपराध से चला जाय जेलखाने में और वहाँ पिसाई जाय उससे चक्की और वह अपने आरामों का ख्याल करे, कमरे में ऐसे गद्दे पड़े हैं, मैं ऐसे आराम से रहता था, मेरे ऐसा लाखों करोड़ों का वैभव है, यों अपने वैभव का ख्याल करे और उस ख्याल करके वर्तमान कष्टों में माने खेद तो उससे उसका खेद बढ़ेगा कि मिटेगा? बढ़ेगा। और, कदाचित् यह जान जाय कि घर तो घर ही है, अब तो यहाँ जेलखाने में हैं। यहाँ तो ऐसा ही करना पड़ता है, न चक्की पीसे तो कोड़ों की मार सहेंगे। यहाँ का तो यही हाल है, ऐसा समझ ले तो जेलखाने में रहकर भी वह दुःखी न होगा कुछ धैर्य रखेगा। यों ही समझिये कि इतने बड़े विशाल बिगाड़ वाले जेलखाने में हम आप सभी रह रहे हैं, जहाँ अनेक परिणतियाँ अपने मन के प्रतिकूल हो रही हैं, जहाँ मनचाहे विषयसाधनों का अभाव बना रहता है, कोई किसी के अधीन नहीं है और यह चाहता है सबको अपने मन के माफिक, ऐसे इस बिगाड़मय संसार में यदि कुछ भी बात गुजरे, कुछ भी बिगाड़ हो तो इतना साहस तो बनावें कि यदि भगवंत जिनेन्द्र की भक्ति जगी हो और तुम सब जिनेन्द्र के भक्त हो तो अन्तः यह निर्णय कर लीजिए कि संसार ही सारा कुछ से कुछ बन जाय उस तक से भी मेरा कोई बिगाड़ नहीं होता। मैं अपने आपमें अपने भावों को बिगाड़ूँ, अपने स्वरूप की पहिचान से विलग रहूँ तो यह कर रहा मैं अपना साक्षात् बिगाड़।

नैराश्य के आलम्बन में श्रेयोलाभ- जो परपदार्थों की आशा न रखे वही पुरुष धीर, वीर और सुखी होता है। और अनेक आपत्ति और कष्ट से भरे हुए दुःखरूपी संसारसमुद्र से पार हो जाता है। जिनके आशा लगी है उनके मन में पवित्रता कैसे जग सकती है? इसी कारण जो विवेकी बुद्धिमान पुरुष हैं वे निराश्यता का आलम्बन करते हैं और अपने कल्याण की सिद्धि करते हैं। जिन्होंने आशा का परिहार किया उन्होंने ही अपना कल्याण किया। फल चाहते तो हैं निर्वाण और दादा बाबा बच्चों की आशा लगाये हैं तो यह बात कैसे हो सकती है? केवल बनना है तो यहाँ इस केवल को जानना चाहिए। और, इस केवलरूप से ही अपना आचरण बनाना चाहिए। बनना तो चाहें केवल और काम करें परपदार्थों के आकर्षण, विकल्प, आशा भाव बनाये रहने का तो कल्याण कैसे हो सकता है? जैसे लोग कहने लगते हैं कि वाह पुरुष तो चाहते हैं कि हमारी स्त्री सीता बने और खुद क्या बनना चाहते हैं? रावण। तो जैसे उन्हें धिक्कारते है ना, ऐसे ही धिक्कार योग्य बात यह है कि कुछ दिल बहलवाने के लिए, कुछ लौकिक यश के लिए, कुछ कुल परम्परा है इसलिए कुछ रूप दिखाये निर्वाणपने का और निरन्तर आशा का विष ही अपने में बसाये रहें तो इसमें कौनसी बुद्धिमानी की बात है? जो आशा का परिहार कर दें वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

श्लोक- 866

सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते।
तस्य क्वचिदपि स्वान्तं संगपङ्कैर्न लिप्यते।।

सर्व आशाओं का निराकरण करके नैराश्य के अवलम्बन में सत्य निर्ग्रन्थता- जो पुरुष आशा को दूर करके निराशा का आलम्बन करते हैं उनका मन किसी भी काल में परिग्रहरूपी कर्दम से नहीं निकलता है। जो आशा को छोड़ दें उनके परिग्रहरूपी मल फिर किस भाव से लगेगा? अपने ही अन्दर कुछ निरख लीजिए। है तो वह ज्ञानस्वरूप। जिसमें कल्पनाएँ जगती, विचार बनता, तर्क वितर्क उठता है वह है कोई ज्ञानात्मक चीज। कल्पना भी तो ज्ञान का रूप है। विचार तर्क ये सब ज्ञान की ही तो चीजें हैं। तो हम ज्ञान का कुछ परिणमन बनाये रहने के अतिरिक्त और करते क्या हैं? सो कुछ निरख लीजिए। सर्वत्र कहीं भी हो, मंदिर में हो, दुकान पर हो, गली में हो, किन्हीं भी परिस्थितियों में हो, किन्हीं भी स्थानों में हो, सिवाय एक ज्ञान का परिणमन बनाने के यह जीव और कुछ नहीं करता। उस ही ज्ञान की कल्पना में समस्त पदार्थों के कर्तव्य का भार लादे हैं। केवल एक ज्ञान की कल्पनाभर बनाता है यह जीव, और कल्पनाएँ ऐसी अटपटी बेढंगी बना लेता है कि जन्म मरण का होना, ऐसी अनेक कुयोनियों में जन्म लेना, अज्ञान अँधेरा छाना, सत्पथ न मिलना, पर्याय को ही सर्वस्व समझना ये सारी विपत्तियाँ, विडम्बनाएँ उस पर सवार हो जाती हैं। केवल एक ज्ञान की परिणति को हम सही बना लें, कुपथ से अपने को हटा लें, इतना भर काम हम अपने अन्दर में कर सकें तो कल्याण के लिए फिर जो कुछ कर्तव्य होता है वह सब यथार्थ बन जाता है। जो समस्त आशाओं का निराकरण कर देते हैं, निराशा का आलम्बन करते हैं वे पुरुष निष्परिग्रह हैं।

इच्छा की परिग्रहरूपता- इच्छा का नाम परिग्रह है। जिसके इच्छा है उसके अज्ञानमय भाव है, अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता। तो अज्ञानमय भाव न होने से ज्ञानी सदैव निष्परिग्रह रहता है। कहीं साथ जा रहे हों, दो चार मित्र साथ हों, नौकर भी साथ हों, किन्तु पास में रखे हैं धन थैले में अथवा ट्रक में तो यह मालिक सबसे वचन भी ले लेता है। देखो भाई यह जगह डर की है, यहाँ चोर लुटेरे बहुत आते हैं, सब लोग खूब जागते रहना, सो मत जाना, देखो हम कुछ अपनी नींद अच्छी तरह से ले लें। सब लोग हाँ भी कह देते हैं, हाँ सेठ जी तुम खूब आनन्द से सोवो, हम लोग बराबर देखते रहेंगे, पर हाल क्या होता है कि वे सब के सब तो आनन्द से सोते हैं और यह

मालिक खूब वचन भी ले चुका तिस पर भी सोता नहीं है, जगता रहता है। कितना ही किसी से कहलवा लो, कुछ प्रभाव तो भीतरी इच्छा का रहेगा। विवशता में कुछ भी बात कहलवा लो। जिनके इच्छा है चिन्ता तो वे करेंगे। वह सोचता है कि कह तो दिया इन लोगों ने कि हाँ हम जगते रहेंगे पर ये सो गये और धन चला गया तो क्या होगा, सो इस चिन्ता में वह सो नहीं पाता है। इच्छा का ही नाम तो परिग्रह है, आशा कहो, इच्छा कहो, परिग्रह कहो, ये करीब हेरफेर से लोभकषाय के ही नाम है। जो आशा का परिहार करे उसे परिग्रह का मोह लग नहीं सकता। बड़े-बड़े महापुरुषों के जो चरित्र हैं उन्हें देख लो, जब तक उन्होंने सर्वपरिग्रहों का त्याग नहीं किया तब तक वे दुःखी रहे, सुख तो तब मिला जब सर्वपरिग्रहों का त्याग किया। लोग इच्छा बनाये हैं, आशा बनाये हैं इस कारण नैराश्य अमृत का पान नहीं कर पाते। जैसे नपुंसक वेद में जो अंतः पीड़ा है, वेदना है वह विचित्र है, न भोग सकते, न तृप्त हो सकते। ऐसे ही और नहीं तो कम से कम वृद्धावस्था का तो कुछ दिग्दर्शन कर लो कि जहाँ इच्छा से कुछ भी काम नहीं बनता है पर इच्छा लगाये रहते हैं तीन लोक की। जब बच्चे लोग समृद्ध हुए, खूब आराम में हैं फिर भी इस आशावश वे वृद्धावस्था में भी दुःखी रहा करते हैं। न उनकी इच्छा पूर्ण हो पाती है, न उससे कुछ काम बनता है फिर भी इच्छा बनाये रहते हैं, यह एक बात इसलिए कही कि वृद्धावस्था तो बिना आशा गुजारने के लायक है। इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से किसी चीज की चाह करने से लाभ कुछ नहीं है, लेकिन मानकषाय की शक्ति से, प्रेरणा से जवान बना रहता है। जो पुरुष इस आशा का निराकरण करके आशारहित, समस्त विकाररहित ज्ञानस्वरूप का अपने आपमें अवलम्बन करते हैं वे पुरुष परिग्रह के मल से लिप्त नहीं होते।

श्लोक- 867

तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः।
निर्ममत्वं च यस्यापिशाची निधनं गता।।

आशापिशाची के दूर होने पर ही श्रुत की सत्यता- जिस पुरुष के आशारूपी पिशाची निधन को प्राप्त हो गई है, नष्ट हो गई है उसका शास्त्राध्ययन करना सार्थक है और जिसकी आशापिशाची नष्ट नहीं हुई उसका शास्त्राध्ययन भी कुछ मूल्य नहीं रखता। एक बहुत ऊँचा पंडित बनारस में था। बहुत पुरानी बात नहीं दो तीन पीढ़ी की ही बात है। उस पंडित का बड़ा यश फैल

चुका था। खूब वृद्ध होने पर भी वह रात्रिभर शास्त्राध्ययन करते थे। लोगों ने उनसे कहा कि पंडित जी अब आप बहुत वृद्ध हो गए, आपका यश भी खूब फैल चुका है, अब तो आपको इतना श्रम करने की आवश्यकता नहीं रही। तो पंडित जी बोले कि हमारा यश खूब फैल गया है। अब यदि हम किसी से शास्त्रार्थ में हार गए तो हमें कुर्वे में गिरकर ही प्राण देने होंगे। सो कहीं हार न जायें इस कारण इतना श्रम अभी करते रहते हैं। आखिर एक दिन हुआ भी ऐसा ही। किसी जवान विद्वान से शास्त्रार्थ में हार गए तो रात्रि को कुर्वे में गिरकर अपने प्राण त्याग दिया। तो इस आशा राक्षसी का जिसके निवास है उसे अपने आपका लाभ कुछ नहीं सूझता। जो कुछ उद्वेग में आया उसी कर्तव्य के करने पर उतारू हो जाता है। शास्त्राध्ययन उसका निरर्थक हो जाता है। जिसने आशापिशाची को नष्ट किया वही पुरुष सम्यग्ज्ञान के द्वारा अपने इस स्वतंत्रस्वरूप को समझ पाता है। वस्तु के स्वतंत्रस्वरूप की समझ आती है सम्यग्ज्ञान से। और, वह ज्ञान बनेगा द्रव्यगुण पर्याय की समझ से। सो द्रव्यगुण पर्याय की सही समझ बनायें तो उसकी परम्परा से फिर यह आशापिशाची दूर हो जायेगी।

आशापिशाची के नष्ट होने पर ही चारित्र विवेक निर्ममत्व व तत्त्वनिश्चय की समीचीनता-
यह आशा का गड्ढा इतना विलक्षण है कि ज्यों ज्यों इसे पूरा करते जावो त्यों त्यों यह और खाली होता जाता है। और, जमीन के गड्ढों में तो यह बात नहीं है, उनको तो कूड़ा करकट डालते जाइये, भरते जायेंगे, पर यह आशा का गड्ढा ऐसा विचित्र है कि जितना ही धन वैभव का कूड़ा करकट डालते जावो उतना ही खाली होता जाता है। अनेक श्रम करके कभी कोई सुख और विश्राम का समय आये तो फिर झट कोई ऐसी आशा उपजती है कि सारा सुख किरकिरा हो जाता है। कभी बहुत अच्छा समय आये, सर्वसम्पन्न है लेकिन उस समय कोई आशा जगे तो वह सब कमाई हुई स्थिति बिल्कुल खतम हो जाती है, यह आशापिशाची जिसकी नष्ट हुई है वही सच्चे चारित्र को पाल सकता है। सच्चा चारित्र पालने का प्रयोजन यही है कि यह आत्मा अपने स्वरूप में मग्न हो जाय। यह बात तब बनती है जब किन्हीं बाह्यपदार्थों की आशा नहीं रखी जाती है। आशा के भेद से ही विवेक सार्थक है। आशावान को विवेक कहाँ जगता? उसके तो पक्षपात, अन्याय ये सभी प्रवृत्तियाँ चलती हैं। जिनके आशापिशाची जागृत है उनको तत्त्व का निश्चय नहीं होता, ममत्व परिणाम का अभाव भी नहीं होता। आशा जिस पदार्थ की लगी हो उसको एक विलक्षण बन्धन हो जाता है। जैसे गाय या भैंस को ले जाने के लिए एक बड़िया उपाय यह है कि उसके बच्चे को उठाकर आप चल दें, फिर तो वह गाय या भैंस अपने आप पीछे-पीछे भागती चली आयगी, ऐसे ही जिस पुरुष को जिस पदार्थ से बन्धन है, आशा है वह पदार्थ तो उसके बन्धन में बंधकर यों ही चलता रहता है। जिसकी आशापिशाची नष्ट हुई हो वह स्वतंत्र है, उसका शास्त्राध्ययन करना,

चारित्र पालना, विवेक होना, तत्त्व का निर्णय होना, निर्भयता होना ये सब बातें यथार्थ हैं। आशा दूर करें और आत्मध्यान पायें और इसके प्रसाद से आत्मीय शुद्ध आनन्द का अनुभव करें।

श्लोक- 868

यावदाशनलश्चिते जाज्वलीति विशृङ्खलः।

तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी॥

आशाग्निज्वलित चित्त में दुःखदाहशान्ति की असंभवता- हे आत्मन् ! जब तक तेरे चित्त में आशारूपी अग्नि नितान्त प्रज्ज्वलित हो रही है, स्वच्छन्दता से बढ़ रही है तब तक तेरे मोह दुःखरूपी दाह की शान्ति कहाँ से हो? जैसे जब अग्नि स्वच्छन्दता से निरन्तर जलती बढ़ती रहती है तो वहाँ दाह की शान्ति की आशा नहीं है। इसी प्रकार चित्त में आशारूपी अग्नि बढ़ती रहे, स्वच्छन्द जलती रहे तो दुःखदाहों की शान्ति अशक्य है। दुःख सुख कोई बाहर की बात नहीं है। अपने आपके आत्मा के अन्दर की कल्पना और वृत्ति का फल है। सर्वपदार्थ स्वतंत्र हैं, मैं भी स्वतंत्र हूँ, किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है, अधीनता नहीं है किन्तु इस आशा का परिणाम करके परवस्तु के अधीन बन जाते हैं। आशा जिनके हैं उनके दुःख की दाह अवश्य है। जो भी महापुरुष भगवंत हुए हैं उन्होंने आशा का अभाव करके ही वह भगवत्ता प्राप्त की है। अन्य उपाय नहीं है पवित्र होने का। आशा के अभाव के लिए निज के परिचय की प्रथम आवश्यकता है। समस्त पदार्थों से इस महत्त्वशाली तत्त्व का परिचय करना जरूरी हो जाता है। वह उत्तम तत्त्व है निज सहज ज्ञानस्वभाव। इस ओर दृष्टि दी जाय और पर की आशा समाप्त की जाय। आशा कहो, राग कहो, दोनों एक ही प्रकार के कषायों के प्रतिफल हैं। यह राग आग संसार के जीवों को जला रही है, यह दाह तभी मिट सकती है जब समतारूपी अमृत का सेवन किया जाय। सम्पत्ति विपत्ति, हित अहित सब कुछ अपने आत्मा में पड़े हुए हैं। ये सब एक ज्ञान की कला पर निर्भर है। हम किस पद्धति से अपना ज्ञान करें कि आनन्द मिले और किस पद्धति से ज्ञान करें कि क्लेश मिलें, ये सभी बातें अपने ज्ञान की कला पर निर्भर है। तो आप समझिये कि इतना उत्कृष्ट लाभ, इतना सस्ता उपाय और कुछ भी हो सकता है क्या? जब ही पर से मुख मोड़कर स्व के उन्मुख बनते हैं तो सर्वसंकट टल जाते हैं। इतनी कला जिसके आ गई उसने सब कुछ पा लिया, जीवन का सार भी पा लिया।

जब तक चित्त में आशारूपी अग्नि स्वतंत्रता से जलती है तब तक दुःखदाहों की शान्ति नहीं हो सकती है।

श्लोक- 869

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम्।
तमालिङ्गति सात्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहृदा॥

नैराश्यसुधायुत जीव के शान्ति का लाभ- जिसका चित्त निराशतारूपी अमृत के प्रवाह से पवित्र हो गया है उस पुरुष को शान्तिरूपी लक्ष्मी उत्कंठापूर्वक मिलती है। आशा से मलिन चित्त में शान्तभाव नहीं आ सकता। खुद ही तो यह प्रभु है, खुद ही जानता है, खुद ही संसार में डूबता है, कैसा विचित्र समन्वय है, कैसा विलक्षण संगम है कि यही तो निर्णेता है और यही अपराधी है। अपराध हमारा कोई दूसरा नहीं करता। हम ही अपना अपराध करते हैं और हम ही अपने अपराध का फल भोगते हैं। अपने सुख दुःख का फैसला भी हम ही करते हैं। ऐसा विलक्षण संगम है, अब विवेक की आवश्यकता है। अपराध हमारा न बने अर्थात् आत्मदृष्टि हमारी भंग न हो और उस प्रयोग के फल में हमारा शुद्ध विकास बने, यों निरपराध बनें; यों निर्णेता बनें। ऐसा पुरुष आशा का अभाव करके नैराश्यरूपी अमृत के प्रवाह से पवित्र होता है उस ही पुरुष को उपशमभावरूपी लक्ष्मी बड़ी उत्सुकतापूर्वक मिलती है।

श्लोक- 870

न मज्जति मनो येषामाशाम्भसि दुरुत्तरे।
तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादपः॥

आशानद में न डूबे हुए जीव के ज्ञान की फलिरूपता- जिनका मन दुस्तर आशारूपी जल में नहीं डूबता है उनका ही ज्ञानवृक्ष फलित होता है। जैसे कोई वृक्ष जल में डूब जाय तो वह फल नहीं देता है इसी प्रकार जिनका मन आशारूपी जल में डूब जाता है उनका ज्ञान फलित नहीं होता है,

विकसित नहीं होता है। जिस मन में आशा भरी है उस मन में ज्ञान का विकास कैसे हो सकता है? अतः ज्ञानविकास की चाह करने वाले पुरुषों का कर्तव्य है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध करके विशुद्ध भेदविज्ञान के विशुद्ध प्रयोग से आशा विकार का विलय करे और अपने ज्ञान स्वरूप में प्रवेश करके अनन्त ज्ञान विकास और अनन्त आनन्द विकास के अनुभव का मार्ग प्राप्त करे।

श्लोक- 871

शक्रोऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः।

विध्याप्याशानलज्वालां श्रयन्ति यमिनः शिवम्॥

आशाग्नि ज्वलित इन्द्र के भी सुख का अभाव- स्वर्ग का भी इन्द्र हो, यदि आशा रूपा अग्नि से जलता है तो वह सुखी नहीं है। लोभ कषाय की प्रबलता देवों में पायी जाती है। अब आप देख लीजिए, धन वैभव के या शारीरिक सुख दुःख के झंझट उनके नहीं है, फिर भी लोभ कषाय के भार से वे देव भी पीड़ित रहा करते हैं। देवों में लोभ तृष्णा अन्य गतियों के जीवों से अधिक पायी जाती है। तो इन्द्र भी हो कोई और आशा की दाह यदि जल रही है तो वह सुखी नहीं है। क्या है, यह जीवन एक फिल्म का चित्र है। जैसे फिल्म के चित्र में कुछ बताया ही तो जाता है जन्म लेकर अन्त तक। ऐसे ही यह भी एक फिल्म है। उस फिल्म में एक घर में बैठाकर दिखाया जाता है और यहाँ की फिल्म को जहाँ चाहे बैठकर देख लेते हैं। जैसे हम उन चित्रों में यह सोचा करते कि यह बालक हो गया, यह इस इस तरह से बड़ा हुआ, फिर इस तरह का बना, ऐसे ही यहाँ भी सभी लोग यही सोचा करते कि यह पुत्र पैदा हुआ, यह कैसे पले, कैसे यह समर्थ बने। उस बच्चे के पीछे कितनी ही चिन्ताएँ लादी जाती है। बच्चे लोग बड़े बनने को तरसा करते हैं। वे भी बड़ों को देखकर यही चाहते हैं कि हम भी बड़े बनें और इनकी तरह से मालिक बनें। लेकिन बड़ा बनने में कितनी-कितनी चिन्ताएँ लादनी पड़ती हैं। और, बड़ा कहलाता भी क्या? पुण्यवन्तों की सेवा करने का ही नाम बड़ा बनना है। पुण्यवन्त जीवों की सेवा करते रहने में मोही जीव अपना बड़प्पन मानते हैं। वहाँ भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं। तेल में जो बड़ा बनाया जाता है उसकी कुछ कहानी सुनो। घर में रखे हुए उड़द पहिले चक्की में दल दिये जाते हैं, फिर शाम को पानी में डाल देते हैं, रातभर फूलते हैं, फिर सुबह सिलबट्टे में उन्हें खूब रगड़ा जाता है, फिर उनमें नमक मिर्च डाला जाता है। फिर उसे गोल-मटोल बनाकर कड़ाही में जलते हुए तेल में डाल दिया जाता है। उसमें खूब पक जाने के

बाद भी वह छुट्टी नहीं पाता है। महिलायें कुछ लोहे की सींक रखती हैं जिनसे बड़ों में छेद कर देती हैं। तो इतनी बातें बनती हैं तब कहीं वह बड़ा कहलाता है। ऐसी ही बात घर के बड़ों की भी है। एक नटखट नहीं, पचासों नटखट घर गृहस्थी में चला करते हैं तब वह बड़ा कहलाता है। ये तो सब आशा के मूल कारण से बातें उठी हैं। जहाँ आशा की तीव्र अग्नि जल रही है वहाँ घर गृहस्थी में मन के अनुकूल वातावरण भी मिल जाय, कुछ मौज भी मान ली जाय पर वहाँ भी विपत्ति है, और, वह मौज मानना विपत्तियाँ सहने की एक तैयारी है। अभी मौज मानेंगे तो आगे बड़ी आपत्तियों के क्लेश सहेंगे। लगातार कोई आपत्ति में रहें तो फिर आपत्ति सी नहीं रहती, सहन हो जाती है। यह मौज मानना तो उस आपत्ति का बीज है। कोई ऐसा हो कुटुम्ब में जिसकी वजह से रात दिन कष्ट ही कष्ट होता हो, उसके कारण बहुत सी आपत्तियाँ ही आपत्तियाँ मिली हों तो उसके मरने पर कोई ज्यादा दुःख नहीं मानता। और, जिसके कारण कुछ मौज आता हो उसके वियोग में फिर यों लगता कि मेरी दुनिया ही नहीं रही। तो मौज बड़ी विपत्ति भोगने की एक तैयारी है, भूमिका है। यह आशा जिसके लगी रहती है वह इन्द्र भी हो तो सुखी नहीं है, किन्तु मुनिगण आशा की अग्नि की ज्वाला को बुझाकर मोक्ष का आश्रय कर लेते हैं, शान्त हो जाते हैं, नैराश्यता का अवलम्बन करके मुनिजन सर्वथा सुखी हो जाते हैं। मोहीजन जिन बातों में सुख मानते हैं वे क्लेश है। आशा, भोग, वैभव, सम्पदा ये सब मोहीजनों को प्रिय हैं, किन्तु हैं ये सब कष्ट के स्थान।

श्लोक- 872

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता।

किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितं।।

आशा का प्रलय करने वाले जीवों के समीहित की सिद्धि- आचार्य महाराज कहते हैं कि जिस पुरुष के चित्त अचित्त पदार्थों में, सजीव अजीव वस्तुओं में आशा नष्ट हो गयी है उसको इस लोक में क्या क्या मनोवाञ्छित सिद्धियाँ नहीं होती, अर्थात् सर्वसिद्धियाँ हो जाती हैं। इच्छा की पूर्ति होती है इच्छा के नाश में। इच्छा अपने इस उपयोग के थैला में भरते जायें रोज-रोज तो वह नष्ट नहीं होती, वह तो और बढ़ती जायगी। इच्छा न रहे उसी के मायने इच्छा की पूर्ति हो गयी। तो इस इच्छा के ही नाश से समस्त मनोवाञ्छित कार्यों की सिद्धि है। किसी चीज की इच्छा न रही, समझो सब कुछ मिल गया। जिसे कुछ चाह है उसे अभी वह चीज मिली नहीं है तभी तो उसकी चाह है।

यह आशा नष्ट हो जाय तो समस्त मनोवाञ्छित सिद्धियाँ हो जाती हैं। एक कथानक है कि कोई ऐसा नगर था जिस नगर में लखपति करोड़पति लोग रहा करें। जिसके पास लाख का धन था वह एक दीपक जलाये, जिसके पास 1 करोड़ का धन था वह एक ध्वजा अपने द्वार पर गाड़े, जिसके पास 2 करोड़ का धन था वह 2 ध्वजा अपने द्वार पर गाड़े। तो एक सेठ के पास 99 लाख रुपये थे। वह सेठ भी एक करोड़ वाली एक ध्वजा लगाना चाहता था। सो सोचा कि एक लाख रुपये किसी तरह से और जोड़ लें तो एक ध्वजा लग जायगी। सो उसी दिन से उसने खाने पीने में कमी कर दी, नौकरों में कमी कर दी, फिर भी एक लाख का धन न जुड़ सका तो सोचा कि 1 लाख का धन कमाने के लिए कहीं व्यापार करने चलना चाहिए। सो वह कहीं परदेश चला गया। यहाँ घर के जब उस 99 लाख का धन कोई सम्हालने वाला न रहा तो सब स्वाहा हो गया। वहाँ पर सेठ ने खूब धन कमाया तो एक करोड़ रुपये जुड़ गए। उस एक करोड़ के उसने 4 रत्न खरीद लिए 25-25 लाख के और अपने घर के लिए चल दिया। समुद्री रास्ता था, डाकुवों का भय था, सो उसने क्या किया कि अपनी जाँघ की कुछ खाल खिचवाकर उसमें चारों रत्न भर लिया। जब वह बन्दरगाह पर आया तो वहाँ से आने के लिए अब तो उसके पास कुछ और न था सो लोगों से कुछ धन माँगा, पर वहाँ अपरिचित जगह में कौन धन दे दे। एक गाँव का कोई व्यक्ति मिला, वह बोला कि हमारे साथ चलो, कुछ काम हमारे यहाँ करना तो हम तुम्हें धन देंगे।...क्या काम करना होगा?...हम लोग रसोई बनाते हैं तो तुम बर्तन माँज लिया करना।...बहुत अच्छी बात। अब वह सेठ बर्तन माँजने की नौकरी कर रहा है। खैर किसी तरह वहाँ से छुट्टी लेकर जब वह सेठ घर पहुँचा तो वहाँ कुछ भी न था। उन चारों रत्नों को खोला, जौहरियों को दिखाया तो बहुत-बहुत देखने के बाद जौहरियों ने यह तय किया कि इनमें तीन-तीन रत्न तो 25-25 लाख के हैं और एक रत्न 24 लाख का है। लो सेठ सोचता है कि मैंने खाना पीना छोड़ा, सारे आराम छोड़े, परदेश में भी खूब धक्के खाये, बर्तन भी माँजने पड़े, पर रहे 99 के 99लाख। हाय हमारी ध्वजा न लग पायी। तो जो आशा के वश रहते हैं उन्हें लाभ क्या होता है? जब जो होना है सो होता है। जिसकी आशाएँ नष्ट हो गईं उसके सर्वसिद्धि होती हैं। किसी हद तक गृहस्थ के भी राग रहे, आशाएँ न जगने पायें। तो उसके भी समझिये कि सर्वसिद्धियाँ हो गईं।

श्लोक- 873

चापलं त्यजति स्वान्तं विक्रियाश्चाक्षदन्तिनः।

प्रशाभ्यति कषायाग्निनैराश्याधिष्ठितात्मनाम्॥

नैराश्य का आलम्बन करने वाले जीवों के चपलता, विकार व कषायों का परिहार- जिनकी आत्मा ने निराशता का आलम्बन लिया है उनका मन चपलता को छोड़ देता है उसका मन चंचल नहीं रहता और इन्द्रियरूपी हस्ती विषय विकारों को छोड़ देता है तथा विषयरूपी अग्नि शान्त हो जाती है, मन चंचल होता है तो किसी जगह विश्राम नहीं मिल पाता, अपने लक्ष्य में स्थिर नहीं हो पाता, उसका कारण है आशा का परिग्रहण। जिसे आशा लगी है उसका मल अचलित नहीं रह पाता और फिर दुःखी होकर यत्र-तत्र फिरता है। मेरा मन बड़ा दुःखी है, चंचल है, कोई ऐसा उपाय बतावो कि जिससे मन ठिकाने लग जाय। अच्छा, तो क्या उपाय बता दें। उनकी तो कल्पना में यह उपाय है कि 10-50 हजार का वैभव दे दो तो मन स्थिर हो जाय। पर कदाचित् वैभव भी मिल जाय तो भी क्या मन वश हो जायगा? अरे तृष्णा और भी बढ़ जायेगी। गरीबी में अपना दाल रोटी खूब खाते थे तो वही एक मन का प्रसार था, उतने में ही सन्तुष्ट होता था। अब पहुँच जाय मिठाइयों तक तो अब कल्पनाओं का प्रसार और बढ़ जाता है। कहाँ तो गरीबी में सूखी रोटी भाजी में ही सन्तोष मानता था और अब मिठाइयों के बीच में भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता। और भी कुछ वैभव बढ़ जाय, अनेक प्रकार के साधन बन जायें तो जितना कुछ मिलता जायगा उतना ही असन्तोष बढ़ता जायेगा। इस आत्मा की रक्षा करने वाला बाहर में कहाँ कौन है? किसका सहयोग हमें मिल सकता है? कोई हम पर प्रसन्न भी हो जाय तो वह अपने ही मन में तो कुछ विचार बनायेगा, मेरा क्या करेगा? पृथक्-पृथक् सर्व पदार्थ हैं, किसी से मेरे में कुछ नहीं आता है। जब आशा से मन भरा हुआ है तो वह स्थिर हो ही नहीं सकता और आशावश पुरुषों के ये इन्द्रियरूपी हस्ती ये विषयविकार को छोड़ नहीं सकते, मदोन्मत्त रहकर अपने विषयों में प्रवृत्ति करते हैं, और जब आशा है तब सभी प्रकार की कषाय अग्नि इसकी बढ़ जाती है। आशा से क्रोध भी बढ़ता है। उस आशा में किसी ने बाधा डाल दी तो उसमें वह क्लेश मानता है। उससे फिर उसकी क्रोधाग्नि और बढ़ जाती है, उस आशानुसार कुछ बात बन जाने से उसके घमंड बढ़ता है, और जब उस आशा की सिद्धि न चले तो वह मायाचार भी करेगा, और लोभ का रंग तो है ही। तो आशावान पुरुषों की कषायाग्नि शान्त नहीं हो सकती। जिन पुरुषों ने निराशता का आलम्बन लिया है उनका मन स्थिर होगा, कषायें शान्त होंगी। इन आशावों को दूर करना चाहिए, आशायें दूर होंगी ज्ञान से। अतएव वस्तुस्वरूप के ज्ञान का हमें अधिकाधिक यत्न करना चाहिए।

श्लोक- 874

किमत्र बहनोक्तेन यस्याशा निधनं गता।
स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये।।

आशारहित प्राणियों की ही सेवनीयता- अधिक कहने से क्या लाभ? जिस पुरुष की आशा निधन को प्राप्त हो गई है वह बड़े-बड़े पुरुषों के द्वारा सेवनीय होता है। वे बड़े-बड़े पुरुष उसकी इसलिए सेवा करते हैं कि अपना यह लोक भी विशुद्ध बने और परलोक भी विशुद्ध बने। जीव यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है। जो स्वभाव जिसमें नहीं होता वह अनेक उपाय करने पर भी प्रकट नहीं हो सकता। जैसे गेहूँवों में चने के अंकुर बनने की शक्ति नहीं है तो कितने ही साधन मिल जायें लेकिन उनसे चने के अंकुर न बन जायेंगे। जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वही प्रकट हो सकता है। आत्मा आनन्दमय हो जाता है और कुछ न कुछ अब भी आनन्द का विकास बनाये रहते हैं। तो आत्मा में आनन्द का स्वभाव है तब उसका विकास होता है। आत्मा स्वयं आनन्दमय है। इसके आनन्द का विघात एक आशा परिणाम ने किया है, परतत्त्व में आकर्षण की बुद्धि होने से जो पर का भार रहता है उस आशा परिणाम ने जीव के आनन्दस्वरूप का घात किया। जिन संतों ने इस आशा पर विजय प्राप्त की उनके चरणों की सेवा बड़े-बड़े पुरुष भी भक्तजन दोनों लोकों की सिद्धि के लिए किया करते हैं, वे ही महान पुरुष हैं जिनकी आशा विनाश को प्राप्त हुई।

श्लोक- 875

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर।।

आशा के परित्याग में ही हितलाभ- संसाररूपी कर्दम में फँसाने वाली यह आशा है और आशा का अभाव हो तो वह मोक्ष को उत्पन्न करने वाला है। आशा है संसार की जनक और आशा का अभाव हो तो संसार का अर्थात् विकारपरिणाम का अभाव हो जाता है तो इस आशा से जन्म मरण की परम्परा चलती है और आशा के अभाव से निर्वाण की प्राप्ति होती है। अब तू इन दोनों बातों का भली प्रकार विचार कर, जिसमें अपना लाभ हो उसका आचरण कर। यदि जन्म मरण में

लाभ समझा हो तो अच्छी तरह विचार लेना अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य, कीड़ा, मकौड़ा, पेड़ इत्यादि इन जीवों में शरीर धारण कर करके मरते रहना फिर जन्म लेना ऐसा यदि इष्ट हो तब तो इस आशा का आदर करो, आशा परिणाम को ही अपना सर्वस्वस्वरूप समझो और यदि इस बात में लाभ जंचा हो कि समग्र जन्म मरण के संकट दूर हों और केवल मैं अपने स्वरूप में ही मग्न रहूँ, विशुद्ध आनन्दस्वरूप रहूँ, तो इस आशा के अभाव करने का प्रयत्न कर। आशा के अभाव का प्रयत्न यही है कि आशा रहित और आशा जैसे अनेक समस्त विकारों से रहित अपने आपके स्वरूप के कारण जो एक विशुद्ध ज्ञान परिणमन है उस ज्ञानमात्र को अपनी प्रतीति में लें, ऐसा निर्णय करें कि मैं समस्त विकारों से रहित केवल जाननहार स्वरूप हूँ, इस शुद्ध प्रतीति के बल पर इन समस्त आशा आदिक विकारों का अभाव हो जायगा। भेदविज्ञान बिना विकार नहीं मिट सकते हैं सो भेदविज्ञान के उपाय से आशा के अभाव को करें, इसमें ही अपना विशुद्ध लाभ है।

श्लोक- 876

न स्याद्विक्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम्।
कथं प्रक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः॥

आशापिशाचपीडित पुरुषों के स्वेष्टसिद्धि का अभाव- जो आशारूपी पिशाच से पीड़ित हैं वे पुरुष विक्षिप्त चित्त हैं और जिनका चित्त विक्षिप्त है उनको इष्टसिद्धि कहीं नहीं है। इष्टसिद्धि है जगत के किसी पदार्थ को इष्ट न माना जाय और परमइष्ट जो अन्तःस्वरूप है उसमें अनुभव जगे वही वास्तविक इष्टसिद्धि है, ऐसी इष्टसिद्धि को वे कायर लोग कैसे प्राप्त कर सकते हैं जो आशारूपी पिशाच से पीड़ित हैं? आशा का परिणाम होने से मन चंचल होता है, और मन की स्थिरता न रहने से परमशरणभूत जो निज अन्तस्तत्त्व है उसकी दृष्टि नहीं बनती। अतः सर्व कल्याण चाहने के लिए आशा का अभाव करना एक प्रथम कर्तव्य है और आशा के अभाव के लिए सर्वप्रथम कर्तव्य भेदविज्ञान की भावना है, मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ, मैं अनेक भौतिक पदार्थों का संचय भी कर लूँ तो भी उससे होता क्या है? यह मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, सो प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावमात्र रहा करते हैं। यह मैं अपने स्वभावमात्र ही रहूँगा। यहाँ हूँ तो स्वभावमात्र हूँ और इस भव को छोड़कर कहीं भी जाऊँगा तो वहाँ भी अपने स्वभावमात्र रहूँगा। समस्त विभावों से भिन्न अपने आपको निरखने वाले संत पुरुष आत्मध्यान करते हैं। आत्मध्यान के प्रकरण में पंचपापों के

निषेध की बात चलती रहती है। जो पुरुष आत्मध्यान करना चाहता है उसकी चर्या कैसी हो जिससे कि वह आत्मध्यान का पात्र रह सके? उसके वर्णन में 5 महाव्रत बताये गए कि 5 पापों का सर्वथा त्याग होना चाहिए और परिग्रहत्याग महाव्रत में अपनी प्रगति और वृत्ति करने के लिए अपने आपको निष्परिग्रह अनुभव करते रहने के लिए कर्तव्य है कि इस आशा का विनाश करें।

श्लोक- 877

विषयविपिनवीथीसंकटे पर्यटन्ती

झटिति घटितवृद्धिः क्वापि लब्धावकाशा।

अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नयन्ती

छलयति खलु कं वा नेयमाशापिशाची॥

आशा पिशाची का उपद्रव- विषयरूपी वन की गलियों में फिरते हुए और तत्काल बढ़ते हुए जहाँ तक बेरोकटोक स्वच्छन्द होकर विचरने वाले संयमी मुनियों को आकुलित करने वाली यह आशा किसी को नहीं छोड़ती है अर्थात् सभी मनुष्यों को यह आशा धोखा देती है। स्वप्न की तरह इन बाह्य पदार्थों की आशा लगायें, उनके प्रति चिन्ता करें तो यह कोई अच्छी बात नहीं है। ऐसा विशुद्ध ज्ञान पाकर यदि इसका सदुपयोग न किया जा सका, अपने अन्तस्तत्त्व की भावना न की जा सकी तो समझ लीजिए कि ये सब विकार, आशाएँ स्वच्छन्द होकर बढ़ती चली जायेंगी और फिर इस विशाल संसार में जन्म मरण के चक्र और भी बढ़ते चले जायेंगे। इस आशा के वश हुआ प्राणी धोखा ही खाता है। जैसे बहुत-बहुत संग्रह किया, समागम किया, अन्त में यह जीव पछताता हुआ जाता है। सब कुछ देखता हुआ मरण करता है, हाय मैंने इतनी कठिनाई से इतना वैभव कमाया और आज सब यों ही छूटा जा रहा है। मैं लाखों करोड़ों की सम्पदा का स्वामी था, मैं एक धनिक कहलाता था। मेरे दस्तखत मात्र से लाखों करोड़ों की बाकी निकालना, जमा करना सारी बातें रहती थी। अब यह मैं इतना विवश हो गया साथ में एक छदाम भी नहीं जा रहा। बड़ी पीड़ा मानता है वह मोही पुरुष जो आशा के वश होता है। इस आशा ने बड़े-बड़े संयत संतों को भी आकुलित कर रखा है। यह पिशाची किसी को नहीं छोड़ती। क्षण तो वह ही सफल है जिसमें सबसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र अपने आपके सहजस्वरूप की दृष्टि बना दी जाती है और उसकी उपासना की जाती है

और उसकी ओर अपना उपयोग रहता है, जितने क्षण यह बन सकता है वह क्षण सफल है और उतने ही क्षण भी बने तो उनमें यह सामर्थ्य है कि अवशिष्ट दिन रात की अनेक क्षणों में भी यह पुरुष विचलित रहा आया लेकिन कुछ क्षणों को यह आत्मध्यान उन सब अपराधों को शान्त कर देता है। आत्मविजय का केवल एक यह ही साधन है। हमारी रात दिन की चर्याओं में जो क्षोभ जगा, मोह बना उन सब अपराधों के क्षय करने की सामर्थ्य इस क्षणमात्र के आत्मध्यान में पड़ी हुई है। जैसे लोग प्रायः कहते हैं कि यह मोह बड़ा बलवान है, इस मोह ने बड़े-बड़े मनुष्यों को भी सता रखा है, विवश कर रखा है, किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया है, बड़े-बड़े महापुरुष सेठसलाका पुरुष भी इस मोह के वश होकर कहीं से कहीं अपनी स्थिति बना डालते हैं। इस आशा ने किस किसको धोखा नहीं दिया अर्थात् आशा के वश होकर दुःखी होना मात्र हाथ रहता है। किसी बाह्य वस्तु से इस आत्मा को लाभ नहीं होता है। अतएव आशा के ऐसे विकट छलपूर्ण स्वरूप को जानकर इससे हटने का हमारा यत्न होना चाहिए।

अथ अष्टादश प्रकरणम्

श्लोक- 878

महत्त्वहेतोरुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि।।

श्लोक- 879

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्यानि।।

महाव्रतों का महत्त्व- यह ग्रन्थ आत्मध्यान का है। इसमें आत्मध्यान के सब उपायों को बताया जायेगा। चूँकि ध्यान का वर्णन बहुत विस्तार और स्पष्ट रीति से इस ग्रन्थ में किया गया है। तो बहुत-बहुत विचार तो इसी में लग रहा है कि आखिर आत्मध्यान का पात्र कौन हो सकता है,

अभी आत्मध्यान की बात नहीं आयी है। कुछ समय बाद यह प्रकरण आयेगा। अब तक तो यह बताया जा रहा है कि जिस पुरुष को आत्मध्यान करने की रुचि जगी हो उसे अपना जीवन, अपनी चर्या परिणति कैसी रखना चाहिए और उस पात्रता के वर्णन में मुख्य तीन बातें बताई हैं। प्रथम तो इस जीव को सम्यग्दृष्टि होना चाहिए। यथार्थ श्रद्धान हो। यह आत्मा वास्तविक ज्ञानानन्दस्वरूप है और इस ही से विशुद्ध पूर्ण विकास कल्याण है, ऐसी मेरी दृढ़ श्रद्धा होना चाहिए और फिर इस आत्मतत्त्व के बारे में हमारे सम्यग्ज्ञान रहना चाहिए। और, तीसरा बताया सम्यक्चारित्र। हमारी चर्या 5 पापों के त्यागरूप होना चाहिए। तब इस आत्मा में आत्मध्यान करने की पात्रता जगती हैं। हम आचरण तो करते रहे विपरीत, पापों से सम्बन्ध रखते हुए और आशा रखें कि हमें आत्मध्यान बने, मोक्षमार्ग हमारा चले तो यह बात कैसे बन सकती है? हमारी चर्या निष्पाप हो तो हम मोक्षमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं, जो पुरुष क्रोधी रहता है, परजीवों के विरोध में, विघात में ही जिसका संकल्प बना रहता है उसे निज विशुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान कैसे बनेगा? जो पुरुष असत्य बर्ताव करता है, असत्य सम्भाषण करता है, आत्मा के प्रतिकूल वचनों में बना रहता है ऐसे परोपकारी परसमय मिथ्यादृष्टि जीव के आत्मध्यान कहाँ से जग सकेगा ! चोरी, कुशील, पापों में जिनकी आसक्ति रहती है उन पुरुषों को आत्मध्यान की बात कहो तो व्यर्थ जैसी है। वह इसका पात्र नहीं है और परिग्रह का जो अपने चित्त में आकर्षण बना रहता है, परिग्रह संचय की कोशिश करते हैं यह भावना भी परिग्रह का सम्बन्ध रखते हैं ऐसे पुरुषों को भी आत्मा के ध्यान की पात्रता कहाँ हो सकती है? अतएव इस सत्पुरुष को जो आत्मध्यान का अभिलाषी है, पंचपापों का परित्याग कर देना चाहिए। दो बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं, एक तो लोकेषणा की बात बनी रहे और एक आत्मध्यान की बात जगे इन दो बातों में तो परस्पर विरोधी जानवरों जैसा विरोध है। जैसे सर्प और नेवला, मूसक और बिलाव, ये जन्मजात विरोधी हैं, इनका एक साथ सम्बन्ध कैसे बनेगा? इसी तरह लोकेषणा के कार्यों में लोक के भावों का और ज्ञानमात्र आत्मपरिणमन का कैसे सहयोग बन सकता है? पंचपापों का परित्याग करना आत्मध्यानाभिलाषी को अत्यन्त आवश्यक है।

महाव्रत नाम की सार्थकता- उन ही 5 महाव्रतों के सम्बन्ध में इन छंदों में यह बतला रहे हैं कि उनका नाम महाव्रत क्यों रखा? यद्यपि झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन 5 पापों के सर्वथा त्याग का नाम बताया है, तो इसका नाम महाव्रत क्यों रखा? उसके उत्तर में कह रहे हैं कि इसके तीन कारण हैं- प्रथम तो यह महाव्रत महत्त्व के कारण है। महाव्रत का पालन करने से जीव का महत्त्व बढ़ता है, इसी से सर्वकल्याणार्थी पुरुष इस महाव्रत का आश्रय लेते हैं। यह व्रत स्वयं महान है, पवित्र है, पापों से दूर है। ये पंच महाव्रत अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्यागमहाव्रत ये पंच महाव्रत स्वयं महान हैं। देवताओं ने भी इन महाव्रतों

को नमस्कार किया है, इनकी पूजा की है। रत्नत्रय पूजा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूजा है ना। तो सम्यक्चारित्र की पूजा तेरह अंगरूप भी है। उन अंगों में प्रथम 5 महाव्रत कहे गए हैं, तो ये महाव्रत स्वयं महान हैं, इस कारण इन्हें महाव्रत कहते हैं और, तीसरा कारण यह है कि ये महाव्रत महान अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान के साधन हैं, अर्थात् महाव्रत के पालन करने वाले साधु संत पुरुष आत्मध्यान में बढ़कर ऐसी निर्विकल्प स्थिति प्राप्त कर लेते हैं कि जिसके प्रसाद से अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् केवलज्ञान और अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है। तो ये महाव्रत महान अतीन्द्रिय सुख और ज्ञान के कारण हैं, इस कारण संतपुरुषों ने इन महाव्रतों को माना है।

श्लोक- 880

महाव्रतविशुद्धयर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः।

परमासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भावया।।

महाव्रतसाधना के लिये भावनायें- आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य जीव ! पंच महाव्रतों की विशुद्धि के लिए 25 भावनाओं को अंगीकार करो और अपने वैराग्य को उत्तरोत्तर बढ़ावो। भावनाओं में बड़ा बल है, भावना से ही यह संसार बना है और भावना से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस जीव को अपने आपके अन्तरङ्ग में इस ही ज्ञान की तो भावना करना है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जगत के समस्त पदार्थों से और उन पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए भावों से, कर्मों से भी अत्यन्त पृथक् हूँ, स्वतंत्र हूँ, ऐसा पार्थक्य केवल रूप अपने आपकी भावना भर ही तो करना है जिसके प्रसाद से परम निर्वाण की प्राप्ति होती है। धर्म करना है ऐसी अभिलाषा हो तो अंतरंग भावों पर जोर देना चाहिए। विषय कषायों के भाव उत्पन्न न हो यही तो धर्मपालन की स्थिति है। और, चूँकि चिरकाल से यह चित्त विषय साधनों की ओर लगा रहता था तो इसका उपयोग बदलने के लिए शारीरिक शुभ प्रवृत्तियों का एक आश्रय भर लेना है। प्रभुपूजा करें, सत्संग निवास करें, और और भी ज्ञानार्जन आदिक साधन बनायें, ये सब प्रवृत्तियाँ इसलिए हैं कि जो विषय कषायों की वासना संस्कार प्रवृत्तियाँ चली आयी थी उनका मूल से विनाश हो जाय उसके लिए उपयोग बदला है और वह उपयोग बदला है इस ढंग से कि जिसमें इस ज्ञानभावना की पात्रता बनी रहे। तो भावना ही यह पुरुष करता है, भावना से ही इसके भवितव्य का निर्णय है।

पञ्च महाव्रतों की भावनायें- पंच महाव्रत जो बताये हैं उनमें प्रथम व्रत है अहिंसा महाव्रत। अहिंसा महाव्रत के निर्दोष पालन के लिए हमें इन 5 भावनाओं को धारण करना चाहिए- सत्यव्रत की भावना में बताया है क्रोध का त्याग करना। यह भावना बनी रहना चाहिए कि मेरे क्रोध न बसे, क्योंकि क्रोध में यह जीव असत्य भी बोल देता है। जो बात सही नहीं है केवल दूसरे का अहित करने की वासना जगी है, क्रोध बना है अतएव असत्य भी बोलेगा। तो क्रोधरहित अपनी परिणति बने यह भावना होना चाहिए। लोभवश भी असत्य बोला जाता है। तो इस लोभ का भी त्याग करें उसके सत्यव्रत का धारण कहलाता है। भयशील होकर भी यह पुरुष कुछ से कुछ बोल जाता है। जिसे शुद्ध महाव्रतों की रक्षा करना हो उसे इस भीरत्व का भी त्याग करना होगा। हँसी मजाक अधिक बोलचाल ये भी सत्य महाव्रत के घातक हैं। आगम विरुद्ध कुछ भी बोलना यह भी सत्य महाव्रत का घातक है। ऐसी 5 भावनाएँ रहें तो सत्यमहाव्रत की साधना रहती है।

अचौर्यमहाव्रत में सूने घर रहना, एकान्त घर निवास होना, जहाँ कुछ चीज ही न पड़ी हो। कोई भी वहाँ न रहता हो, निर्जन स्थान में मेरा निवास हो ऐसी भावना करना जो किसी के स्वामित्व में नहीं है, छूटा हुआ घर है वहाँ निवास करने की भावना हो जहाँ स्वयं रहते हो वहाँ दूसरे को मैं न रोकूँ, जो चाहे रहे ऐसी बुद्धि बने क्योंकि दूसरे को कोई रोके तो उसमें किसी न किसी प्रकार की चोरी की बात होगी। तो इस चोरी सम्बन्धी बात भी न करेंगे ऐसी भावना हो। एक ऐसी भावना हो कि विधिवत आगम के अनुकूल मेरे आहार की शुद्धि रहे, साधर्मिजनों से विवाद न करें क्योंकि थोड़ा विवाद हो और वह विवाद बढ़ चला तो उस विवाद में फिर यह भावना बनने लगती कि मैं इसको कैसे नुकसान पहुँचा दूँ? और, किसी नुकसान पहुँचाने की भावना से चोरी करने तक की नौबत आ सकती है। ब्रह्मचर्यमहाव्रत की साधना के लिए ये 5 भावनाएँ होनी चाहिए- स्त्री में राग पहुँचे ऐसी कहानी कथनों का परित्याग होना, उनके मनोहर अंगों को न निरखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण न करना, स्वादिष्ट रसीले उत्तेजक, बलबर्द्धक पदार्थ न खाना, अपने शरीर का संस्कार न करना, ऐसी भावना बनी रहे तो इससे ब्रह्मचर्यमहाव्रत की भली-भाँति साधना होती है। परिग्रहत्यागमहाव्रत की साधना के लिए यह संकल्प बना रहे कि इष्ट विषयों को मैं प्रीतिपूर्वक न देखूँ, इष्ट विषयों में राग न करूँ और जो अनिष्ट विषय हों उनमें मैं द्वेष न करूँ ऐसी भावना रहे तो परिग्रहत्याग महाव्रत की साधना बनती है।

भावनाओं का प्रभाव- भावना से परिणामों में निर्मलता जगती है, और जो व्रत धारण किया है उस व्रत में कदाचित् भी दोष न आये, इसके लिए हमें उसके साधक की भी भावना करना है और उससे बढ़कर भावों की भी भावना करना है। इन भावनाओं को साधुजन करते हैं और

श्रावकजन भी करते हैं। भावना की ही तो बात है। वैसे तो वह श्रावक श्रावक ही नहीं है जो अपने आपमें मुनि होने की वाञ्छा न रखता हो। अपने अन्तरङ्ग में जब श्रद्धा में यह बात आये कि अत्यन्त निःसंगता से ही हमारा उद्धार होगा तो क्या उसे निःसंग होने की चाह नहीं है? भले ही चाहे इस भव में निष्परिग्रह न बन सके, उमंग तो सत्य धर्मधारण करने की होनी ही चाहिए। तो जो निःसंग धर्मधारण करने के उद्यमी हैं वे पुरुष धर्म को भली-भाँति पाल लेते हैं। ऐसे ही इन पंच महाव्रतों की इस भावनाओं के भाते रहने से ये महाव्रत निर्दोष रीति से विशुद्ध पालने में आते हैं। और जहाँ ऐसी निष्पाप अपनी जीवन वृत्ति रहती हो वहाँ आत्मा को ध्यान में लेते रहने की पात्रता बनी रहती है। सब जगह ढूँढ़ लो, अपने मन के द्वारा सब पदार्थों का संसर्ग बनाकर देख लो आखिर सब छलपूर्ण घटनाएँ मिलेंगी। आत्मा को शरणभूत वास्तविक आनन्दप्रद कोई साधन है तो वह है केवल अपने आपके सहजस्वरूप का ध्यान। मैं सबसे न्यारा ज्ञानमात्र हूँ। इस भावना से वे समस्त गुण प्रकट होते हैं जिन गुणों में आनन्द बढ़ा करता है।

श्लोक- 881

ईर्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः।

सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः॥

साधुत्वसाधना में पञ्च समितियों का स्थान- लोक में अपने आत्मा के सहज विशुद्ध स्वरूप का ध्यान करना ही शरण है। उस आत्मध्यान की पात्रता के लिए मनुष्य को किस आचरण से रहना चाहिए, उसका यह वर्णन चल रहा है। वही मनुष्य आत्मध्यान का पात्र होता है जो अपनी जीवनचर्या ऐसी विशुद्ध रखता हो कि जिनमें अन्य तत्त्वों में इसकी वासना न रहे। वह चर्या है उत्कृष्ट 5 महाव्रत, 5 समिति और 3 गुप्तिरूप। साधु संतजन जिन्हें न किसी जीव को सताने से प्रयोजन है, न कहीं असत्य सम्भाषण से प्रयोजन है और न खाने पीने की ऐसी आसक्ति है कि जैसा चाहे विधि अविधि न्याय अन्याय का भी भोजन कर सकें और न ऐसी असावधानी है जिससे कि उनके व्यवहार में किसी वस्तु के धरने उठाने में कभी अचौर्यव्रत का भंग हो और वे परम अंतस्तत्त्व ब्रह्म में आचरण करने का निरन्तर ध्यान रखते हैं। परिग्रह का कुछ प्रयोजन ही नहीं है, ऐसी 5 महाव्रतों के पालनहारे योगीश्वरों की यदि परिणति बने तो किस प्रकार परिणति बने, उसका वर्णन 5 समितियों के रूप में कहा जा रहा है। समिति शब्द का अर्थ है जो सम कहो भली प्रकार और इति कहो

गमन कराना। वे परिणति जो अपने आत्मतत्त्व की ओर गमन करायें उनका नाम है समिति। वे समितियां 5 हैं- ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्ग समिति। इन 5 समितियों के साथ 3 गुप्ति और जोड़ने से यह 8 प्रवचनमालिका कहलाने लगता है। इसका वर्णन आगे आयगा। तीन गुप्तियां क्या हैं, इसका वर्णन अब अगले छंद में कर रहे हैं।

श्लोक- 882

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकं।

त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम्॥

साधुत्वसाधना में गुप्तियों का स्थान- मन, वचन, काय से उत्पन्न अनेक पापोंसहित जो परिणतियां हैं उन परिणतियों का जो प्रतिषेध करें अथवा मन, वचन, काय को रोके सो वे तीन गुप्तियां कहलाती हैं। गुप्ति का अर्थ छुपाना, दबाना यह अर्थ करते हैं, पर गुपू रक्षणे धातु से गुपू शब्द बना है जिसका अर्थ है रक्षा करना। जैसे कि रक्षा छुपने से ही होती है अतएव गुप्त शब्द का रक्षा करने में तो व्यवहार नहीं रहा और छुपाने में व्यवहार हो चला। कोई चीज यदि स्वरक्षित रखाई जाय तो किन उपायों से रखते हैं- संदूक में रख दें, पेटी में बन्द कर दें तो चीज की रक्षा होती है, अर्थात् अन्य कोई विरोधी पुरुष इसे न उठा ले जाय अथवा न नष्ट कर दे ऐसे उपाय का नाम है गुप्त करना। मन, वचन, काय को गुप्त करना अर्थात् इसका निरोध करके जिससे कि आत्मा स्वरक्षित रह सके उन सब प्रवर्तनों का नाम है तीन गुप्तियां। इन ही पाँच समितियों का और आगे चलकर तीन गुप्तियों का वर्णन किया जायगा। जिनमें इस समय ईर्यासमिति का वर्णन कर रहे हैं।

श्लोक- 883

सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम्।

गुर्वाचार्यतपोवृद्धान्सेवितुं व्रजतोऽथवा।।

श्लोक- 884

दिवा सूर्यकरैःस्पष्टं मार्गं लोकातिवाहितम्।
दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः।।

श्लोक- 885

प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्रहितेऽक्षिणः।
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता।।

ईर्यासमिति में संयमन- ईर्या का अर्थ है चलना। परमार्थ में तो भाव यह लीजिये कि अपने आपके विशुद्ध आत्मतत्त्व में चलना सो ईर्या है और व्यवहार में यह अर्थ लीजिये कि देखकर जमीन पर गमन करना सो ईर्या है। व्यवहार चूंकि परमार्थ की याद दिलाता है और परमार्थ का साक्षात् विरोध कर दे ऐसा व्यवहार नहीं हुआ करता है, अतएव रास्ता चलने में भी आत्मा की याद कैसे बनायी जाती है और आत्मस्मरण सहित वह पथ गमन होता। इन सबका समन्वय देखना होगा। प्रथम तो मुनिजन अच्छे काम के लिए चलें तब ईर्यासमिति कहलायेगी। कोई पुरुष किसी दूसरे को मारने के लिए तो चले और चार हाथ आगे जमीन देखकर चले, चींटी न मर जाय, इस तरह बड़ा शोधकर जाय तो क्या उसे ईर्यासमिति कहते हैं? केवल एक ऊपरी पालन से ही धर्म तो नहीं लगता। कोई संत सिद्ध क्षेत्र में वन्दना के लिए अथवा जिन प्रतिमा की वन्दना के लिए या गुरु आचार्य तपस्वी जो अपने आप हैं, जिनसे अपने हित की दिशा मिल सकती है उन गुरुजनों की सेवा करने के लिए यदि गमन किया जा रहा हो तो उसके ईर्यासमिति होती है। कोई साधु मोहवश अपने गांव के लिए, परिजनों से मिलने के लिए या अन्य-अन्य किन्हीं कार्यों के लिए गमन करे तो उसके ईर्यासमिति का उद्देश्य न रहने से परमार्थ ईर्या का विरोध हो जाने से ईर्यासमिति नहीं होती है। जब संतजन सिद्ध क्षेत्र की वन्दना के लिए चलते हैं तो उनका आत्मस्मरण भी साथ चलता रहता है। मैं अमुक सिद्ध क्षेत्र पर जाऊँगा जहाँ से असंख्यात मुनिराज सिद्ध हुए हैं। उन्होंने अपने आत्मस्वभाव का दर्शन करके अपने आपमें निर्विकल्प निस्तरंग भव्यता प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त की

है, मैं उस स्थान पर जाऊँगा जहाँ मैं ऐसे सिद्धि भगवन्तों की स्वरूपपरिणति का स्मरण करूँगा, यह उसका भाव है, अथवा जिनमन्दिर की वन्दना के लिए जा रहा हूँ तो वहाँ भी उसका आत्मस्मरण ही प्रयोजन है। जिनबिम्ब के दर्शन करके ज्ञानी पुरुष सीधा अपना ध्यान उन प्रभु की ओर ले जाते हैं, जिनकी बिम्ब में स्थापना की है। कोई पुरुष अपने गुरु की फोटो लिए हुए हो तो उस फोटो का आदर जो करता है, उसे खूब सम्हालकर रखता है और कभी कभी अपने मस्तक के निकट भी ले जाता है तो क्या उस कागज का, उस स्याही का, उस पिण्ड का वह आदर करता है? देखने में तो ऐसा ही लग रहा है लेकिन जिसका फोटो है उसके गुणों का विशेष स्मरण हो रहा है। उस गुणस्मरण से प्रेरित होकर उस फोटो का भी आदर करता है। तो ऐसे जिनबिम्ब को निरखकर जिन तीर्थकरों की स्थापना की है उनका चरित्र, तपश्चरण भी सब ध्यान में आ रहा है तो आत्मस्मरण होता है। सर्वपरिणतियाँ आत्मस्मरण में सफल होती हैं। धर्म के नाम पर कुछ भी किया जाय, यदि आत्मस्मरण नहीं होता, निज अन्तस्तत्त्व की दृष्टि नहीं जगती तो वह विचित्र आनन्द जो आत्मा में स्वभावतः मौजूद है, स्वरूप ही जो है उसकी झलक भी नहीं हो पाती। तो ईर्यासमिति का परमार्थ तो यह भाव है कि अपने आपके परमात्मतत्त्व में गमन करना और जब व्यवहारिक अर्थ है, परिणतिरूप अर्थ है- तो वहाँ इस ईर्यासमिति के स्वरूप में सबसे प्रथम यह नियंत्रण बताया है कि अच्छे कार्यों के लिए जाय तो ईर्यासमिति है। दूसरी बात- दिन में जब कि सूर्य की किरणों से रास्ता स्पष्ट दिखता हो, बहुत लोग जिसमें गमन करते हों ऐसे मार्ग में दयालुचित होकर जीवों की रक्षा करते हुए जो धीरे-धीरे गमन करे उस मुनि के ईर्यासमिति होती है। दूसरी बात यह बतायी गयी है कि दिन में चलना चाहिए। जब कि सूर्य की किरणों से स्पष्ट प्रकाश नजर आ रहा हो, कोई साधु सिद्धों की वन्दना के लिए भी जाय किन्तु चले रात्रि को जैसे कि शिखर जी की वन्दना करने वाले लोग डेढ़ बजे रात्रि से ही चलते हैं तो साधु के लिए वह योग्य काम नहीं बताया है। वह साधु की ईर्यासमिति न मानी जायगी। तीसरी बात- ऐसे मार्ग से न चलना चाहिए जिस मार्ग से अनेक लोग चलते हों। कोई तीर्थवन्दना के लिए भी जाय, दिन में भी जाय लेकिन अटपट मार्ग से जाय जिससे कोई जाता न हो, जो मार्ग प्रासुप नहीं हुआ है, गीला है, बफूड़ा है, जमीन पर बहुत से फूल हैं ऐसे मार्ग से जाय तो उसकी ईर्यासमिति न कहलायेगी। तो तीसरी बात यह है कि ऐसे मार्ग से गमन करना चाहिए जो मार्ग अनेक पुरुषों के द्वारा चला गया हो, प्रासुप हो गया हो। चार बातें हैं- चार हाथ आगे जमीन निरखकर चले तब वह ईर्यासमिति है, दिन में भी चले, अच्छे मार्ग के लिए भी चले, प्रासुप मार्ग से भी चले, पर सिर ऊँचा उठाकर चले, चार हाथ जमीन आगे निरखता हुआ न जाय तो इसके ईर्यासमिति नहीं होती है। 5 वीं बात यह लगा लें कि कोई खोटे भावों सहित जाये तो भी ईर्यासमिति नहीं होती है। जैसे कोई पुरुष गुरुवन्दना के लिए भी जाय, दिन में जाय चाहे

रात्रि में जाय, चार हाथ आगे जमीन देखकर जाय किन्तु क्रोधपूर्वक जाय, अभिमानपूर्वक जाय या आफत सी पड़ गयी, जाना ही पड़ेगा नहीं तो लोग क्या कहेंगे, यों लाजवश जाय तो चूंकि किसी शुद्ध भावसहित गमन नहीं किया, अतएव वहाँ भी ईर्यासमिति नहीं हुई। इस तरह की प्रकृति वाले पुरुषों के प्रायः आत्मकल्याण की सिद्धि नहीं होती है। जो पुरुष आत्मकल्याण के इच्छुक हैं उन्हें एक इस आत्मतत्त्व की ही धुन लगी रहती है, सो जहाँ भी जायेंगे, इस आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिए ही जायेंगे।

श्लोक- 886

धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वकसेविता।
शङ्कासङ्केतपापाढया त्याज्या भाषा मनीषिभिः॥

श्लोक- 887

दशदोषविर्निमुक्तां सूत्रोक्तां साधुसम्मताम्।
गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा॥

साधुत्वसाधना से भाषासमिति का स्थान- इन दो श्लोकों में भाषासमिति का वर्णन किया है। मनुष्य की एक भाषा ही सर्वस्व मान्यतारूप धन है, यों भी कह लीजिये। लोग कैसे जानें कि यह मनुष्य वास्तव में धनिक है? धन से मतलब नहीं, किन्तु आत्मा में गुणों का धन उसके पास है, तो लोगों के जानने का उपाय उसके वचन हैं। वचनों से ही यह ज्ञात होता है कि अमुक मनुष्य किस प्रकार का है, भला है, बुरा है, छली है, सरल है, सब कुछ बोध भाषा से होता है। जिसकी भाषा धूर्तता भरी है, मायाचारसहित है, जिसकी भाषा कामुकता से परिपूर्ण है, जो मांसभक्षी पुरुष है, चोर है, नास्तिक मति वाला है, उसकी अयोग्य भाषा है, तो ऐसे पुरुष को इन सारी भाषाओं का परिहार करना चाहिए। धूर्तता के लक्षण अनेक होते हैं जिसमें मुख्य लक्षण यही है कि दूसरों को आपत्ति आये तो उसमें खुशी माने। तो वह पुरुष महाधूर्त है जो दूसरों की आपत्ति में खुशी मानता है, ऐसे धूर्त पुरुषों से व्यवहार की जाने वाली भाषा वचन ये स्वयं वक्ता को भी किसी आपत्ति में डाल

सकते हैं। ऐसी भाषा का साधु संतजन कभी प्रयोग नहीं करते। माँसभक्षण करने वाले लोग उनसे व्यवहार में लायी हुई भाषा भी त्याज्य है।

साधु गुरुजनों को ऐसा क्या प्रयोजन पड़ा है जो मांसभक्षी मनुष्यों से अपना व्यवहार बनायें। यद्यपि उपदेश तो दिया जा सकता है और मुनि संतों ने दिया है। माँसभक्षी मनुष्यों को, पशुओं को हित की बात वे बताते हैं लेकिन एक ऐसा व्यवहार रखना मित्रता जैसा अथवा उनसे घनिष्टता रखता यह बात युक्त नहीं है। जिस मनुष्य के विषय में यह मालूम हो कि यह मांस खाता है तो उससे बात करने को विवेकी गृहस्थ भी नहीं चाहता। भले ही कोई मानसिक कठिनाई आ जाय, कोई ऐसी बात फँस जाय जिससे बोलना ही पड़े। कोई अफसर है, जज है जो माँसभक्षी है उसके सामने जाना ही पड़े तो उससे बोलना पड़ता है पर वह विवेक गृहस्थ भी उस माँसभक्षी पुरुष से बात करना भी पसंद नहीं करता। उस मांसभक्षी पुरुष के प्रति उस विवेकी पुरुष का भी भाव सद्भाव नहीं रहता है, उत्साह नहीं रहता बोलने का। साधु संतजन तो मांसभक्षियों से अपना वचन व्यवहार ही क्या करेंगे? जो पुरुष चोर हैं, दूसरे के धन को चुराते हैं ऐसी पुरुषों से किसकी मित्रता होती, किसका व्यवहार बढ़ेगा? जो स्वयं सदोष है, चोर है वही तो चोरों से अपना बर्ताव बढ़ायेगा। जो पुरुष नास्तिकमति हैं, चारुवाक आदिक जो न आत्मा को मानते, न परमात्मा को मानते किन्तु जिनका एक सिद्धान्त बना हुआ है कि जब तक जियो खूब सुख से जियो और चाहे कितना ही कर्ज बन जाय, क्या परवाह है, मगर घी दूध खूब पीते रहो, ऐसी जिनकी रीति है, नीति है, जो यह नहीं मानते कि जो हम करते हैं उसका फल हमें भोगना पड़ेगा, याने जो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते ऐसे नास्तिकमति पुरुषों से बहुत व्यवहार में की जाने वाली भाषा भी त्याज्य भाषा है। ऐसी भाषा जो सन्देह उत्पन्न करे वह भाषा भी त्यागने योग्य है। इन भाषाओं से दूर रहकर जो हितमित प्रिय वचन बोले जाते हैं उसे ही भाषासमिति कहते हैं। भाषासमिति में साधुपुरुषों को 10 प्रकार की दोष देने वाली भाषाओं का निषेध किया है। वे 10 प्रकार की कौनसी भाषायें हैं जिन्हें साधु संतजन नहीं कहते?

श्लोक- 888

“कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।

छेद्याङ्कुरा मध्यकृशाऽतिमानिनी भयंकरी”॥

श्लोक- 889

भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्मुनेः॥

त्याज्य दशविध वचन- कर्कश वचन जो बड़े कठोर हैं, सुनने में भी बड़े बुरे लगते हैं और जो मर्म को भी छेद दें, अपने प्राणों को भी दुःखा दें ऐसे कर्कश वचन साधुसंत मुनिजनों के नहीं होते। कुछ लोगों की एक प्रकृति बन जाती, बोलचाल में एक कठोर व्यवहार रखते हैं तो कभी कोई उन्हीं कठोर वचनों के माध्यम से कलह और विवाद बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, बिना विचारे हुए वचन, अविवेकपूर्ण वाणी और ऐसे कि कुछ प्रयोजन नहीं, बिना ही प्रयोजन दूसरे को सताने की वाणी बोलना ये सब त्याज्य भाषा है।

एक ने कथा सुनाया था कि एक पुरुष किसी तीर्थयात्रा में गया, मान लो हरिद्वार गया। वहाँ उसे लगने लगे दस्त, बीमार हो गया, बड़ी तकलीफ पायी तो एक बुढ़िया ने उसे कहा बेटा तुम दुःखी मत हो, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तुम इसी झोंपड़ी में रहो, हम तुम्हें खिचड़ी बनाकर खिला दिया करेंगे, यही खावो और रहो। उसने कहा अच्छा माँ। रहने लगा, पर वह बोलने वाला बहुत अधिक था और बोले भी अटपटा। बैठा बैठा क्या बात करे बुढ़िया से? बात किये बिना चैन न पड़े, ऐसे भी लोग होते हैं। तो वह कहता है- बुढ़िया माँ ! तुम यहाँ अकेली रहती हो, तुम्हारा पेट कौन भरता है? वह बुढ़िया बोली हमारा एक बेटा अमुक शहर में रहता है वह रुपये भेज देता है। उससे अपना काम चलाती हूँ। तो फिर वह पुरुष बोला- अगर वह बेटा मर गया तो फिर कौन देगा? भला बतलावो यह भी कहने की कोई बात है? खैर उसने सुन कर गम खा लिया, फिर वह पुरुष बोला- तुम यहाँ अकेली रहती हो, तुम्हारा मन भी न लगता होगा, हमारे साथ चलो तुम्हारी शादी करा देंगे। इतनी बात सुनकर उसे क्रोध आया और कल्लुली उठाकर कहा- जा तेरा यहाँ गुजारा नहीं है, जहाँ जाना हो जा। तो बिना ही प्रयोजन ऐसे कर्कश वचन कहना यह तो अशोभनीय और अहितमयी भाषण है। दूसरे के चित्त को क्लेश पहुँचे, ऐसे कठोर वचन हों, दूसरे को भी क्रोध उत्पन्न करा देने वाले वचन हों वे सब त्यागने योग्य हैं। कोई लोग ऐसे मायावी होते हैं कि बोलेंगे बड़ी शान्ति के ढंग से और ऐसी बात बोलेंगे कि जिसमें दूसरे को क्रोध उत्पन्न हो जाय, ये सब विवेकरहित भाषायें हैं। जो अपना अभिमान उत्पन्न करायें, दूसरे को भय उत्पन्न कर दें, अनेक

जीवों की हिंसा करायें वे सब दुर्भाषायें हैं, इन दुर्भाषावों को त्यागकर ऐसे वचन बोलना चाहिए जो दूसरों का और अपना हित करें। इसके लिए पहिले तो यह अभ्यास बनाना होगा कि कोई आवश्यक काम हो, बोलने की जहाँ आवश्यकता ही हो, जब बोलना आवश्यक हो तभी बोले, वह तो स्व पर हितकारी वचन बोल सकेगा। जो भाषा बोले वह परिमित हो। दूसरे असंदिग्ध हो अर्थात् ऐसे वचन बोले जिनमें कुछ सन्देह न हो। जिसे बोलते हैं दुहरे अर्थ वाली भाषा जिसका कोई कुछ अर्थ लगा सकता, कोई कुछ अर्थ लगा सकता। जैसे ज्योतिषियों से कोई पूछे, क्यों जी लड़का होगा या लड़की? तो वह लिख देता है किसी पर्चे में और कह देता है कि इसे अभी खोलकर न देखना, बिल्कुल सत्य निकलेगा। लिख दिया लड़का होगा नहीं लड़की, इसमें विराम कहीं नहीं लगाया। जब लड़का हो गया तो कहते हैं- देखो लिखा था ना कि लड़का होगा, नहीं लड़की। और, जो लड़की हो गयी तो कहते हैं देखो ना लिख दिया था लड़का होगा नहीं, लड़की। ऐसे ही ज्योतिषी से पूछे कि आज दिन कैसा रहेगा? तो वह कह देता खूब घमाघम। अगर तेज धूप रही तो लोग कहते- देखो कहा था ना कि खूब घमाघम रहेगा और यदि खूब पानी बरस गया तो लोग कहते- देखो वह कहता था ना कि खूब घमाघम आज रहेगा। तो कुछ ऐसे वचन होते हैं जो संदेहपूर्ण होते हैं, ऐसी संदिग्धभाषा भी न बोलना चाहिए। वचन ऐसे हो जो हितकारी हों, परिमित हों, जिनमें सन्देह न हो, स्पष्ट अर्थ आये। जो साहित्य, संस्कृत, दर्शनशास्त्र आदिक जानते हैं वे यह देखेंगे कि दि. जैन वीतराग ऋषियों ने कितना स्पष्ट सरल भाषा में दर्शन जैसे कठिन तत्त्वों का वर्णन किया है। भले ही जिन्होंने कुछ अध्ययन नहीं किया उन्हें तो इन सरल ग्रन्थों का भी समझना बड़ा कठिन है, लेकिन उस विषय के अन्य अन्य ग्रन्थों को तो देखिये, कभी देखा होगा किसी के ऐसे भी लेख छपते हैं पत्रिकाओं में कि उन्हें पढ़ते जाइये, बहुत पढ़ गए, पर अर्थ वहाँ कुछ न निकलेगा। शब्दों का आडम्बर बहुत है और सुनने वालों को भी सौम्य और श्रृंगार की बात अधिक मिलेगी, पर अर्थ उसका क्या निकला इसका कुछ पता नहीं रहता? और किसी के लेख इतने स्पष्ट होते हैं कि जितने वाक्य पढ़ते जाइये, पढ़ते ही सब अर्थ स्पष्ट विदित हो जाता है। तो जैन ऋषियों ने दर्शन जैसे कठिन ग्रन्थों को लिखा तो एकदम सीधी बात तुरन्त चित्त में समाती जाय, स्पष्ट हो जाय, ऐसे वचनों से उनका विवरण किया है। तो जो सन्देहसहित भाषा हो, सीधी और स्पष्ट भाषा हो ऐसी वाणी बोलना चाहिए। तो जो हितकारी, परिमित, सन्देहरहित प्रिय वचन बोले जाते हैं उसका नाम है भाषासमिति। ऐसी प्रवृत्ति करने वाले योगीश्वर आत्मध्यान के पात्र होते हैं।

श्लोक- 890

उद्गमोत्पादसंज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विध्नशङ्कादिवर्जितम्॥

श्लोक- 891

शुद्धं काले परैर्दत्ततनुद्विष्टमयाचितम्।
अदतोऽन्नं मुनेर्ज्ञेया एषणासमितिः परा॥

साधु की एषणासमिति में उद्दिष्टनाम का दोष- मुनि के एषणासमिति का इसमें वर्णन किया है। एषणा का अर्थ है खोजना। अपना शुद्ध आहार विधिपूर्वक खोजना इसका नाम है एषणासमिति। जो 16 प्रकार के उद्गम दोष, 16 प्रकार के उत्पादन दोष, 10 प्रकार के एषणा दोष और 4 प्रकार के मोहविकार के दोष, ऐसे 46 दोष रहित ठीक समय पर दूसरे के द्वारा दिया गया याचनारहित आहार करना सो एषणासमिति है। उद्गम दोष श्रावक के अधीन हैं। जैसे उद्दिष्ट दोष एक साधु के लिए बनाया गया आहार उद्दिष्ट दोष वाला कहलाता है। ऐसा आहार साधु नहीं करते और न साधु को ऐसा आहार देना चाहिए। जो आहार केवल साधु के लिए बने जैसे कि और तो सब लोग अशुद्ध खायें और एक पावभर के आटे का साधु को बना दिया भोजन तो वह भोजन साधु के लिए योग्य नहीं है। भले ही कोई गृहस्थ रोज-रोज अशुद्ध खा रहा था लेकिन एक दिन भी सब घर के लिए शुद्ध भोजन बना ले और उसमें साधु का भी ख्याल रखे कि मैं साधु को भी भोजन कराऊँगा तो वहाँ यह दोष न लगेगा। केवल साधु के लिए अथवा किसी भेष वाले गृहस्थ के लिए या ऐसा सोचकर कि जो कोई साधु पाखण्डी आयेंगे उनके लिए बनाया है तो ऐसे साधुओं का जो भोजन बनता है उसे उद्दिष्ट दोष कहते हैं। इस उद्दिष्ट दोष से मुनि के आरम्भ में अनुमोदना का दोष लगता है। जो श्रावक सब घर के लिए या अपने कुछ लोगों के लिए भोजन बनाये उसमें से साधु को आहार देना चाहिए। जैसे कुछ लोग यों करें कि यह तो साधु के लिए है और साधु न आयें तो वह भोजन घर वाले न खायें, सोचें कि यह तो निर्माल्य हो गया है, इसे हम लोग न खायें, औरों को दे दें, इस तरह का जो भोजन हो तो उसमें उद्दिष्ट का दोष है।

एषणासमिति में परिहार्य साधिक, पूति, मिश्र व प्राभृतक दोष- दूसरा दोष है साधिक दोष। दातार अपने लिए भोजन बना रहे थे। इतने में सुन लिया कि कोई साधु आ रहे हैं या बीच में ध्यान आया कि मैं साधु को भी खिलाऊँ तो कुछ ज्यादा आटा चावल डाल दें यह है साधिक दोष। बना रहे थे आधा सेर आटा की रोटी और उसमें एक पाव आटा और मिला दिया या आधासेर चावल पका रहे थे उसमें एक पाव चावल और डाल दिया तो यह दोषी भोजन हो गया। इसमें भी साधु के निमित्त का दोष आता है। एक दोष है पूति दोष। प्रासुपवस्तु में गैर प्रासुप चीज मिला देना अथवा ऐसा संकल्प करना कि इस बर्तन के द्वारा जब हम साधु को भोजन दे लें या इस बर्तन में बचे हुए भोजन को पहिले साधु को दे दें तब फिर हम इस बर्तन में खायेंगे, ऐसा ख्याल करके बनाये तो उसमें भी दोष है। एक मिश्र दोष है। प्रासुप भी आहार है तो भी अन्य लोग खायेंगे, हम सब भी खायेंगे और उनके साथ-साथ साधुओं को भी भोजन देंगे ऐसा विचार करके जो भोजन दिया जाय वह है मिश्र दोष का भोजन। एक प्रभृत दोष है। कोई ऐसा संकल्प कर ले कि मैं अमुक दिन अमुक तिथि को नियम से मुनियों को दान करूँगा और फिर उस दिन न करके अन्य दिन करे तो इसमें भी दोष है। जैसे लोग पूजा की बारी बाँध लेते हैं कि हम इतवार को पूजा करेंगे तुम सोमवार को करोगे तो वह भगवत्पूजा है, यों ही कोई श्रावक नियम कर ले कि हम तो सोमवार के दिन साधु को आहार देंगे और फिर उसमें कभी ऐसा सोच ले कि क्या है, और किसी दिन कर लेंगे तो उसमें दोष है क्योंकि अपने लिए हुए नियम से डिगा।

एषणासमिति में परिहार्य बलि, न्यस्त, प्रादुष्कृत, क्रीत व परिवर्तित दोष- एक बलिदोष है, जैसे किन्हीं देवताओं के लिए, यक्ष आदिक के लिए आहार बनाया जाय और उसमें बचा हुआ आहार उन साधुओं को दे तो वह भी दोषी है। एक न्यस्त दोष है, जिस बर्तन में भोजन बनाया है उसमें से निकालकर किसी कटोरी में सजाकर भोजन दे तो वह आहार दोषीक है। जिस बर्तन में बना है उसी में भोजन देना चाहिए। एक प्रादुष्कृत दोष है। साधु के घर आ जाने पर फिर भोजन के बर्तन चौकी वगैरह को एक जगह से दूसरी जगह धरना, उठाना, ले जाना सो प्रादुष्कृत दोष है। जैसे कुछ मण्डप वगैरह सजा हुआ था या राख वगैरह रखी हुई थी, बर्तन साफ करने लगे, दिया जलाने लगे, विशेष बात करने लगे साधु के घर पर आ जाने पर तो वह प्रादुष्कृत दोष है। एक क्रीत दोष है। जब साधु भिक्षा के लिए घर पर आये तब कोई बाजार से कोई चीज खरीदकर साधु को खिलाने के लिए मंगवाये तो वह चीज साधु के ग्रहण करने योग्य नहीं है। हाँ पहिले से ही जो हो सो ठीक है। एक प्राभित दोष होता है, उधार लाकर तैयार किया गया आहार साधु को देना इसमें प्राभित दोष है। जब साधु भिक्षा के लिए घर पर आये तो कहीं पास पड़ोस के किसी से कोई चीज बदलकर फिर उसे साधु को दे तो यह परिवर्तित दोष है। जैसे भाई तुम सेब ले लो संतरा हमें

दे दो- इस तरह से बदलकर लाई हुई चीज साधु को देना यह परिवर्तित दोष है। यह सब इसलिए दोष हैं कि ऐसा करने में श्रावकों को संक्लेश है। कुछ उसने कष्ट तो उठाया, कोई नई बात की, अतएव ये सब दोष माने गए हैं।

एषणासमिति में निषिद्ध, अपहृत, उद्भिन्न, अच्छेद्य, मालारोहण दोष- एक है निषिद्ध दोष, जैसे रसोईघर में दो चार लोग बैठे ही रहते हैं तो कोई चीज दे रहा हो, दूसरा मना कर दे यह न दो, इससे जुखाम होता है, यह न दो इससे नुकसान होता है, चाहे दुर्भाव से कहा हो, पर एक बार निषेध किया जाने पर साधु को आहार दिया जाय तो वह निषिद्ध दोष हुआ। ऐसा निषिद्ध भोजन अगर साधु ग्रहण करे तो उसमें दीनता का दोष आता है। एक आदमी मना कर रहा है और फिर भी साधु उसे ले तो न लेना चाहिए। एक दोष अपहृत है। दूसरे मोहल्ले से, दूसरे गाँव से लाया हुआ भोजन साधु को दे तो वह अपहृत दोष है। अपहृत दोष में ईर्यापथ सिद्ध नहीं होता। बहुत दूर से कोई भोजन लाये, दूसरे मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में ले जाय तो वह आहार न लेना चाहिए। एक उद्भिन्न दोष है। घी, मुनक्का, किसमिस आदिक कोई वस्तु डिब्बे में भरी धरी हो, शील बन्द हो और साधु के घर आने पर उसे खोलकर दिया जाय तो यह उद्भिन्न दोष है। एक अच्छेद्य दोष है। राजा मंत्री आदिक बड़े पुरुष के भय से कोई श्रावक साधु को आहार दे तो वह आहार दोषीक है। क्योंकि वह जबरदस्ती का आहार है। श्रावक ने अनुराग से नहीं दिया, बड़े आदमियों के डर से दिया। एक मालारोहण दोष है। असेनी पर चढ़कर ऊपर से कोई चीज लाकर साधु को दी जाय तो वह मालारोहण दोष है। क्योंकि ऐसा करने में एक तो शुद्धि नहीं रहती, उसमें जल्दबाजी है, उस जल्दबाजी में कहीं कोई सीढ़ी से गिर जाय तो फिर क्या हो? तो ये 16 प्रकार के उद्गम दोष हैं, जो कि श्रावक के अधीन हैं। वास्तविक विधि से इन दोषों को टालें तो टाल सकते हैं।

उत्पादन दोषों में धातृदोष, दूतदोष, निमित्त व पनीपक दोष- 16 उत्पादन दोष हैं जो कि साधु के अधीन हैं, जैसे एक धातृदोष है। गृहस्थ के बालक के प्रति कोई ऐसा उपदेश दे कि बालकों को यों सजावो, यों खिलावो, यों रखो, फिर उस गृहस्थ के घर भोजन करे तो इसमें धातृदोष है, क्योंकि इसमें लिप्सा का दोष लग गया। पहिले गृहस्थ को प्रसन्न कर दिया, गृहस्थ समझ गया कि साधु महाराज हमारे बच्चे से बड़ा प्यार करते हैं तो इस तरह गृहस्थ को प्रसन्न करे फिर उसके यहाँ बने हुए आहार को ग्रहण करे तो इसमें धातृदोष है। यह दोष यों लगा कि पहले तो रूखा सूखा भोजन मिलता था, अब सरस भोजन प्राप्त करने का यह उपाय किया है। एक दूतदोष है। किसी गाँव से चलकर किसी दूसरे गाँव में साधु पहुँचा तो वहाँ जाकर किसी का किसी से सन्देशा कहे और फिर उसके यहाँ आहार ले तो यह है दूतदोष। तुम्हारे मौसा ने यों कहा है, तुम्हारे फलाने

ने यों कहा है ऐसा सन्देशा सुना दिया ताकि श्रावक खुश होकर आहार दे, तो ऐसा आहार करने में साधु को दूतदोष लगता है। एक दोष का नाम है निमित्तदोष। कोई साधु किसी का हाथ देखे, कुछ बातें बताते या गड़े हुए धन को बताये, और ये बातें बताकर फिर उसके यहाँ आहार ग्रहण करे तो उसमें निमित्तदोष लगता है। एक पनीपक दोष है। गृहस्थ जैसी बात सुनना चाहते हैं, वैसी ही बातें सुनाकर उन्हें सन्तुष्ट कर दे, जैसे कोई गृहस्थ पूछे कि कौवा, कुत्तों को आहार दान देने में पुण्य है या नहीं? तो उनका मतलब पुण्य सुनने का था तो साधु ने कह दिया- हाँ उसमें खूब पुण्य है, इस तरह से वचन बोलकर फिर उनके यहाँ आहार लेना सो यह पनीपक दोष है।

एषणासमिति में परिहार्य आजीव, क्रोध, मान, माया, लोभ नाम के दोष- एक आजीव दोष है, अपनी जाति कुल की प्रशंसा करना, मैं बड़े वंश का हूँ, बड़े घराने का हूँ, इस प्रकार से अपनी बड़ाई प्रकट करना, अपनी चतुराई प्रकट करना फिर लोगों के यहाँ आहार ग्रहण करना यह आजीव दोष है। जैसे गृहस्थ लोग तो रोजिगार करके करते हैं इसी तरह उस साधु ने अपनी आजीविका बना ली तो उसमें दीनता है, लिप्सा है, इस कारण यह दोष है। एक क्रोध दोष है। क्रुद्ध होकर आहार का प्रबंध करवा लेना। इस गांव में कोई श्रावक नहीं है, सब तुच्छ हैं, यों क्रोध करना और फिर उनके यहाँ आहार का प्रबंध करवाकर आहार ग्रहण करना यह क्रोधदोष है। इसमें संयम की हानि है। एक मान दोष है। अभिमान के वश होकर आहार ग्रहण करना सो मान दोष है। या आहार ग्रहण करने में अभिमान उत्पन्न कर लेना यह अभिमान दोष है, मान दोष है। छलकपट करके मायाचार करके भोजनादिक ग्रहण करे सो माया दोष है। एक लोभ दोष है। लुब्धपरिणाम रखकर आसक्ति के परिणाम रखकर फिर आहार ग्रहण करना इसका नाम लोभ दोष है।

एषणासमिति में परिहार्य पूर्वस्तुति, चिकित्सा, विद्यादोष, मंत्रदोष चूर्ण एवं वश्य दोष- एक है पूर्वस्तुति दोष। किसी दातार की बड़ाई करना, फिर उसके यहाँ ग्रहण करना यह पूर्वस्तुति दोष है। एक है पश्चात् दोष। आहार ग्रहण करने के बाद फिर उस दातार की प्रशंसा करना सो पश्चात् दोष है। एक चिकित्सा दोष है। किसी को कोई चिकित्सा बतलाकर फिर उसके यहाँ आहार ग्रहण करे तो वह चिकित्सा दोष है। एक है विद्या दोष। किसी को कोई विद्या बताकर या कोई अपना विद्या का चमत्कार दिखाकर, फिर उन श्रावकों के यहाँ आहार ग्रहण करें तो इसमें विद्या दोष है। कोई मंत्र की बात बताकर, किसी देव को मंत्र के द्वारा बुलाकर लोगों को मंत्र की बात बताये, फिर उसके यहाँ आहार ग्रहण करे तो यह मंत्र दोष है। एक होता है चूर्ण दोष। कोई चूर्ण या अंजन या शृंगार साज के चूर्ण तैयार करके बता करके फिर लोगों के यहाँ आहार ग्रहण करे सो चूर्ण दोष है। एक होता है वश दोष। जो जिसके वश न हो उसे वश करने का उपाय बताकर वशीकरण मंत्र देकर या

उसे वश में कराकर, पुरुष स्त्री को मिलाकर ऐसा उपाय बताकर भोजन ग्रहण करे सो वश दोष है। ये सब दोष साधु खुद उत्पन्न करता है अतएव इनका नाम उत्पादन दोष है।

एषणासमिति परिहार्य शंकित, पिहित, म्रक्षित, निक्षिप्त, छोटित, अपरिणत व व्यवहरण दोष- उत्पादन दोष जिस भोजन में आयें वह भोजन न ग्रहण करना चाहिए। जैसे किसी भोजन में शंका हो गई कि यह भोजन करने योग्य है या नहीं करने योग्य है और फिर उसे करे तो यह शंकित दोष है। अप्रासुक वस्तु या वजनदार प्रासुक वस्तु से ढके हुए भोजन को उघाड़कर दिया जाय तो वह पिहितदोष है। घी, तेल आदि से चिकने हाथ या बर्तनों से भोजन दिया जाय तो वह म्रक्षित दोष है। सचित्त या त्रस जीव पर रखे हुए भोजन को लेना सो निक्षिप्त दोष है। कुछ भोजन को गिराकर या छोड़कर इष्ट आहार के ग्रहण करने को छोटित दोष कहते हैं। जिसका रूप, रस, गंध न पलटा हो ऐसे परिणत जल के ग्रहण करने को अपरिणतदोष कहते हैं। दातार अपने लटके हुए वस्त्र को खींचकर या बर्तन चौकी आदि घसीटकर आहार दे उस आहार के लेने में व्यवहरण दोष आता है।

एषणासमिति में परिहार्य दायक, लिप्त व मिश्रदोष- अयोग्य दातार से आहार ग्रहण करने में दायकदोष लगता है। अयोग्य दायक कुछ इस प्रकार हैं- मद्यपायी, रोगपीडित, मूर्छित, रजस्वला स्त्री, 40 दिन तक प्रसूता स्त्री, वमन करके आया हुआ व्यक्ति, आड में खड़ा व्यक्ति, पात्र के स्थान से नीचे या ऊँचा खड़ा व्यक्ति, जातिच्युत, नपुंसक, अतिबाला, वृद्धा, 5 माह से ऊपर की गर्भवती स्त्री, अग्नि जलाने वाला, अग्नि बुझाने वाला, अग्नि को भस्म से ढाकने वाला, अग्नि घिट्टने वाला व्यक्ति इत्यादि दायक आहार देने के लिए निषिद्ध है। भीगे हुए हाथों से या बर्तनों से आहार ग्रहण करने को लिप्त दोष कहते हैं। सचित्त या जीवित त्रस से मिले हुए भोजन को मिश्रदोष से दूषित कहते हैं। साधु संतजन उक्त उद्गम, उत्पादन व भोजन दोषों को टालकर आहार ग्रहण करते हैं।

एषणासमिति में परिहार्य चार महाविकृति दोष- उद्गम, उत्पादन दोष के अतिरिक्त चार अन्य महादोष है जिन्हें महाविकृति दोष कहते हैं, इन्हें भी टालकर साधु आहार ग्रहण करते हैं। एषणासमिति के वर्णन में निर्दोष आहार का विवरण चल रहा है। आहार के चार महादोषों को भी टालकर साधु आहार लेते हैं। एक तो अङ्गार अर्थात् यह वस्तु अच्छी है, स्वादिष्ट है, कुछ और मिले, इस तरह आसक्तिपूर्वक भोजन करने का नाम अंगार दोष है। दोष तो परिणामों से है ना? शुद्ध आहार भी होना चाहिए। और, अशुद्ध परिणाम से भोजन करे तो एषणासमिति नहीं रहती। भले ही आहार बहुत प्रासुप है, मर्यादित है लेकिन खाने वाला यदि अशुद्ध भाव रखकर खाये तो उसे एषणासमिति न कहेंगे। दूसरा है धन दोष। यह वस्तु अच्छी नहीं, अनिष्ट है ऐसी ग्लानि करते हुए भोजन करना सो धन दोष है। तीसरा है संयोजन दोष। गर्म ठंडा मिलाकर, चिकना रूखा मिलाकर,

परस्पर विरुद्ध बात मिलाकर खाये सो संयोजन दोष है। और चौथा दोष है अतिमात्र। भोजन का जो प्रमाण बताया है उस प्रमाण से अधिक आहार करना अतिमात्र दोष है। आहार का प्रमाण बताया गया है कि आधा पेट तो भोजन करे और चौथाई पेट जल से भरे, चौथाई पेट खाली रखे, यह है आहार का प्रमाण। उस प्रमाण को भंग करके अधिक भोजन कर लेना सो आहार का अतिमात्र दोष है। यों समस्त दोषों को टालकर और अंतरायों को भी टालकर भोजन करना सो एषणासमिति है।

एषणासमिति में परिहार्य अन्तराय- अंतरायों में संक्षेप से ऐसा समझिये कि आहार चर्या में या आहार के समय साधु के शरीर पर कोई कौवा आदिक बीट कर दे तो वह अन्तराय है। आहार को जाते हुए या खड़े हुए साधु के किसी पैर घुटने आदि में विष्टा आदिक अशुचि पदार्थ का स्पर्श हो जाय तो अमेद्ध दोष है। चलते हुए में कोई विष्टा से पैर भिड़ गया तो फिर अन्तराय हो जाता है। एक है छर्दी अन्तराय। किसी कारण साधु को भोजन करने के बीच वमन हो जाय तो वह छर्दी नामक अन्तराय है। एक है रोधन अन्तराय। कोई यदि रोक दे कि आज भोजन न करना, चाहे कोई वैद्य ही कह दे तो भी अन्तराय हो जाता है। अच्छे परिणाम से कहे या बुरे परिणाम से। शोक से अपना अश्रु बह जायें या किसी का ऐसा रोना सुने कि जिसमें खुद के अश्रु बह जायें तो वह अश्रुपात अन्तराय है। यदि खुद नीचे के भाग का स्पर्श हो जाय तो वह भी अन्तराय है। जैसे साधु स्वयं अपने पैर छू लेवे तो वह अन्तराय हो जाता है। घुटने से ऊपर कोई रास्ते में लाठी लगी हो या ऊँचा पत्थर हो उसे लाँघ कर जाय तो अन्तराय है, साधु फिर आहार को न जायगा। कोई जगह ऐसी हो कि नाभि से नीचे अपने शरीर को करके द्वार वगैरह से निकलना पड़े तो भी अन्तराय है। त्यागी हुई चीज खाने में आ जाय तो वह भी अन्तराय है। यदि अपने सम्मुख कोई चूहा, बिल्ली, कुत्ता आदिक का घात करे तो अन्तराय है। आहार कर रहे हैं, कोई कौवा, चील आदिक जानवर हाथ पर से ग्रास ले जाये उड़ते हुए में तो अन्तराय है। यदि साधु के हाथ से कोई ग्रास गिर जाय तो अन्तराय है। भोजन करते हुए में साधु के हाथ पर कोई जीव स्वयं आकर मर जाय तो अन्तराय है। भोजन करते हुए साधु को माँस, मद्य आदिक दिख जाय तो वह भी अन्तराय है। भोजन करते हुए यदि किसी के द्वारा उत्पात हो जाय तो भी उपसर्ग अन्तराय है। भोजन करने के लिए जा रहे हों, आहार के समय खड़े हुए पैरों के बीच से कोई पञ्चेन्द्रिय जीव निकल जाय तो वह अन्तराय है। साधु को आहार देने वाले के हाथ से याने दातार के हाथ से कटोरा आदिक बर्तन नीचे गिर जाय तो अन्तराय है। भोजन को जाते हुए या आहार करते हुए साधु को कुछ साधारण सी दस्त बाधा हो जाय तो अन्तराय है। साधु को आहार करते हुए के बीच में या आहार को जाते हुए के बीच में लघुशंका की बाधा हो तो अन्तराय है। साधु तो चर्या करता है ना और वह आँगन तक जा भी सकता है, यदि किसी चाण्डाल आदिक के घर में उनका प्रवेश हो जाय तो फिर आहार न लेंगे।

साधु को स्वयं कोई मूर्छा हो जाय, भूमि पर गिर जाय तो अंतराय है। यदि किसी कारणवश साधु भूमि पर गिर जाय तो अंतराय है। उनका तो चर्या के लिए चलना और खड़े आहार लेना बताया है। भिक्षा के लिए जा रहे हों या आहार कर रहे हों कोई कुत्ता, बिल्ली आदिक जानवर साधु को काट ले तो भी अंतराय है। आहार करते समय साधु को कफ, थूक, नाक आदिक निकल आये तो अन्तराय है। यदि किसी द्वार से पेट का कीड़ा निकल आये तो भी अन्तराय है। दातार के दिये बिना ही कोई भोजन औषधि ग्रहण कर ले या संकेत करके भोजन ले तो वह भी अन्तराय है। अपने निकट में ही कहीं किसी का प्रहार हो जाय, शस्त्रघात या विकट लड़ाई हो जाय तो अन्तराय है। यदि किसी पास वाले घर में आग लगी हो तो अन्तराय है। यदि किसी वस्तु को पैरों से उठाकर ग्रहण कर लें तो अन्तराय है। किसी वस्तु को भूमि पर से हाथ से उठाकर ग्रहण कर ले तो अन्तराय है। इस तरह अनेक अन्तराय है। उन्हें पालकर निर्दोष विधि से भोजन करना सो साधु की एषणासमिति है।

श्लोक- 892

शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च।
पूर्वं सम्यक्समालोच्य प्रतिलिख्य पुनः पुनः॥

श्लोक- 893

गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले।
भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटं॥

साधुत्वसाधना में आदाननिक्षेपणसमिति का स्थान- यह आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप है। साधु किसी चीज को धरे अथवा उठाये तो ठीक ठीक निरखकर पीछी से पीछे से पोंछकर धरें उठाये सो आदाननिक्षेपणसमिति है। मुनियों को अन्य वस्तुओं के धरने उठाने की तो नौबत है ही नहीं। एक सैया आसन, शास्त्र, उपकरण, कमण्डल इनको भली प्रकार देखकर फिर उठाये और रखें, यों यत्न से ग्रहण करें तो साधु के आदाननिक्षेपणसमिति बनती है। उसमें भी बहुत जल्दी उठाने धरने में दोष है, भले ही पीछी से पोंछकर उठाये किन्तु झटककर प्रमादवश उठाया धरा गया है तो

उसमें दोष है। वैसे तो गृहस्थों को भी इस आदाननिक्षेपणसमिति पर ध्यान देना चाहिए। किसी भी चीज को धरते उठाते समय यह निरख तो लेना चाहिए कि कोई जीवजन्तु तो नहीं है, जब किवाड़ लगाये तो कोनों में देख लेना चाहिए कि कोई जीवजन्तु तो नहीं है, अगर जीवजन्तु है और जल्दी से किवाड़ लगा दिया तो उन जीवों का घात हो जाता है। तो यथा सम्भव गृहस्थ को भी आदाननिक्षेपण की सावधानी पर ध्यान रखना चाहिए।

श्लोक- 894

विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम्।
क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत्॥

साधुत्वसाधना में प्रतिष्ठापनासमिति का स्थान- 5 वीं समिति है प्रतिष्ठापनासमिति। मल, मूत्र, कफ, थूक आदिक का क्षेपण निर्दोष जीवजन्तु रहित जमीन पर करे तो उसके उत्सर्गसमिति होती है। यदि कदाचित् देख लो कि कोई दूसरी मंजिल पर साधु बैठा है और वहीं से ऐसा थूके कि जमीन पर नीचे गिरे तो समझ लो कि यत्नाचार नहीं है। एक मोटीसी बात है। साधु के तो प्रतिष्ठापनासमिति में यह बताया है कि पहिले जीवजन्तु रहित जमीन देखें, यदि उस स्थान पर जीवजन्तु हों तो वहाँ मल, मूत्र थूक आदिक का क्षेपण न करें, रात्रि के समय कहीं लघुशंका को जाना है तो पहिले दिन को तीन जगह देख आते हैं कि यदि रात्रि को लघुशंका की बाधा हुई तो हम इस जगह बाधा मिटायेंगे। तीन जगह निर्दोष जीवरहित देख लेते हैं। फिर रात्रि को यदि बाधा हुई, अँधेरा होता ही है तो उस जगह वे औंध औंध करके उस जमीन को धीरे से निरखेंगे कि जीव जन्तु तो नहीं है। यदि उन्हें जन्तु मालूम पड़े तो फिर दूसरे स्थान पर उसी तरह निरखेंगे। कदाचित् वहाँ भी जन्तु मालूम पड़ें तो फिर विवशता है, तीसरी जगह अपनी बाधा मिटायेंगे और बाधानिवृत्ति में प्रायश्चित्त तो हमेशा करते ही हैं। चाहे शोध करके बाधानिवृत्ति की हो, 9 बार कार्योत्सर्ग मंत्र पढ़ते हैं, यह सब प्रायश्चित्तरूप ही तो है। विशेष दोष लगे तो उसका वे प्रायश्चित्त लेते हैं। तो निर्दोष जन्तुरहित पृथ्वी पर मल का बड़ी सावधानी से क्षेपण करने वाले मुनि के कायोत्सर्गसमिति होती है।

श्लोक- 895

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥

श्लोक- 896

सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः॥

साधुत्वसाधना में मनोगुप्ति का स्थान- यह साधुओं का सम्यक्चारित्र कहा जा रहा है। उसमें 5 महाव्रत और 5 समिति का वर्णन हुआ, अब गुप्तियों में मनोगुप्तियों का वर्णन किया जा रहा है। मनोगुप्ति उस साधु के होती है जो रागद्वेष से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़ दे, जिन संकल्पों में रागद्वेष का सम्बन्ध भरा पड़ा है उन संकल्पों को छोड़कर जो अपने मन को स्वाधीन करता है, समताभाव में स्थिर करता है और सिद्धान्तसूत्र की रचना में निरन्तर मन प्रेरित रहता है उस मुनि के मनोगुप्ति होती है। इसमें इतनी बातें कही हैं कि प्रथम तो रागद्वेष भरा संकल्प छोड़ दें और फिर अपने मन को रागद्वेष से रहित करके स्थिर बनायें। जैसे कोई बड़ा भक्त सेवक हो तो जब उसे जिस काम में लगा दो वह तुरन्त काम में लग सकता है। इसी तरह इस मन को जब जिस जगह लगाना चाहिए तुरन्त लगा सके ऐसा जिसका मन स्वाधीन बन गया है और जो रागद्वेषरहित समतापरिणाम में स्थिर रहा करता है और जो ग्रन्थों की सिद्धान्तों की रचना करने में अपना मन लगाये रहता है ऐसे मुनि के मनोगुप्ति पूर्णतया सिद्ध हो जाती है। जब तीन गुप्तियां सिद्ध हो जाती हैं तो उस मुनि को अवधिज्ञान नियम से हो जाता है और मनःपर्ययज्ञान भी हो जाता है। तभी तो जब श्रेणिक ने जैन साधुओं की परीक्षा के लिए एक जगह हड्डियां नीचे गड़वाकर वहाँ एक कमरा खड़ा कराकर चेलना से वहाँ रसोई के लिए कहा गया तो चेलना ने रसोई उसी जगह बनाया, पर पड़गाहते समय यों कहा कि हे तीनों गुप्तियों के धारी महाराज तिष्ठ तिष्ठ तो वहाँ से जो भी साधु निकले वह सोचे कि इसने तो तीन गुप्तियों के धारी के लिए कहा है, हम अभी त्रिगुप्तिधारी हैं नहीं, किसी को मनोगुप्ति न थी, किसी को वचनगुप्ति न थी और किसी को कायगुप्ति न थी, तो सभी मुनियों ही चले जायें। और, उनमें से कोई तीन गुप्तियों के धारी मुनि थे। तो उन्होंने अपने अवधिज्ञान के

बल से जान लिया कि इस स्थान पर हड्डियां गड़ी हैं और इस इस प्रकार से यह प्रसंग छिड़ा है, तो वह मुनि भी वहाँ न रुके। अन्त में श्रेणिक राजा पूछता है कि मुनिवर तो तुम्हारे यहाँ नहीं आये, पर यहाँ कोई रुका भी नहीं तो इसमें बात क्या है? तो चेलना ने बताया कि हमने त्रिगुप्तिधारक कहकर पुकारा था, इससे नहीं आये। फिर सारी कथा सुनने के लिए उन मुनियों के पास गये तो मुनियों के द्वारा पता चला कि किसी मुनि के मनोगुप्ति न थी, किसी के पास वचनगुप्ति न थी और किसी के पास कायगुप्ति न थी। इन गुप्तियों का बहुत बड़ा प्रभाव है। आत्मा आत्मा में मग्न हो जाय, अपने शान्त सुधा रस का निरन्तर पान करते रहें, यह बात तब सम्भव है जब मन पूर्ण वश हो, वचन भी पूर्ण वश हों। भीतर भी जो वचन उठते रहते हैं विचाररूप में वे अन्तर्जल्प न उठें और शरीर स्थिरता से रहे तो इन गुप्तियों के प्रभाव से आत्मा आत्मस्वरूप में निस्तरंग मग्न हो जाता है। यहाँ मनोगुप्ति का स्वरूप कहा गया है कि जिन्होंने अपने मन को स्वाधीन कर लिया, समस्त संकल्पों को छोड़ दिया, समतापरिणाम में ही रहने का जो यत्न रखते हैं, सिद्धान्त सूत्र ग्रन्थों में जिनका मन लगा रहता है उन मुनियों के मनोगुप्ति होती है।

श्लोक- 897

साधुसंवृतवाग्वृत्तैर्मौनारूढस्य वा मुनेः।

संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः॥

साधुत्वसाधना में वाग्गुप्ति का स्थान- वचनगुप्ति उन महामुनियों के होती है जिन्होंने वचनों की परिणति का सम्वरण किया है, मौन से रहते हैं और समस्या आदिक का त्याग करके पूर्ण मौन से जो आरूढ़ होते हैं उन महामुनियों के वचनगुप्ति होती है। जो कम बोलता है उसके ही वचनों में एक बहुत बड़ी विशेषता झलकती है। अधिक बोलने वाले के वचन कभी न कभी ऐसे अनर्थरूप निकल जाते हैं कि पीछे अपनी मूर्खता पर बोलने वाले को पछतावा होता है। तो वचनों का जो अधिकाधिक सम्वरण करते हैं, मौन से रहते हैं और समस्या आदिक का भी त्याग करते हैं, हाथ से संकेत करने या लिखकर देना आदि का भी त्याग करके जो मौन में आरूढ़ रहते हैं उन महामुनियों के वचनगुप्ति होती है।

श्लोक- 898

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा।
परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः॥

साधुत्वसाधना में कायगुप्ति का स्थान- काय गुप्ति है शरीर को स्थिर रखना। जिन्होंने शरीर को स्थिर किया है, जिन पर कोई परिग्रह आ जाय तो भी अपने आसन से न डिगे ऐसे मुनियों के कायगुप्ति होती है। काय को वश करना सो कायगुप्ति है। यहाँ तक कि एक बार एक मुनि श्मशानभूमि में ध्यानमग्न था और लेटे हुए ही ध्यान कर रहा था, निश्चल दशा में था। वहाँ कोई व्यक्ति अपना मंत्र सिद्ध करने की इच्छा से आया तो उसका खोपड़ियों पर कुछ भोजन बनाकर खाने का विधान था। सो एक आदमी की खोपड़ी उस मुनि की खोपड़ी के पास रखा और दोनों खोपड़ियों के बीच के स्थान को चूल्हा जैसा बनाकर उसमें आग जलाया और उसमें खिचड़ी पकाना शुरू किया। कुछ देर तक तो वह मुनि उस परीषह को सहता रहा पर, अन्त में जब न सहा गया तो उस मुनि का मस्तक हिल गया फिर तो सारा खेल ही समाप्त हो गया, वह मुनि उठकर बैठ गया और वह मंत्र सिद्ध करने वाला पुरुष भग गया। तो वह मुनि भी थे उस चेलना के पड़गाहने के समय जबकि चेलना ने कहा था हे त्रिगुप्तिधारी स्वामिन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ। तो उन मुनि ने बताया था कि मेरे कायगुप्ति न थी जिससे मैं पड़गाहने में न गया था। तो ऐसी ही स्थितियाँ आ जायें कि लोग मुर्दा की खोपड़ी समझकर उस पर आग जलायें या घसीटे तब भी शरीर वश में रहे, शरीर में तरंग न उठे सो यह कायगुप्ति है। मन को वश करना सो मनोगुप्ति है, वचन को वश करना सो वचनगुप्ति है, काय को वश करना सो कायगुप्ति है। यों 5 समिति और तीन गुप्ति इन 8 नियमों को अष्टप्रवचनमालिका कहते हैं। कोई साध अधिक पढ़ा लिखा भी नहीं है, कोई भेदभाव भी विशेष नहीं जानता, लेकिन पाँच समिति 3 गुप्ति यदि भली प्रकार निभ रही है, इनका ज्ञान है तो इतने ही ध्यान के द्वारा वह साधु अपने मोक्षमार्ग को बना लेता है और निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यों सम्यक्चारित्र में तेरह प्रकार का चारित्र बताया है, ऐसे चारित्रधारी ऋषि संत आत्मध्यान के पात्र होते हैं, जिस आत्मध्यान के प्रसाद से निर्वाण प्राप्त होता है।

श्लोक- 899

जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते॥

प्रवचनमातृका संकेत- 5 समिति 3 गुप्ति यह आठ प्रवचनमात्रिका संयमी पुरुषों की रक्षा करने वाली माता है। इन आठ का नाम प्रवचनमात्रिका है। रत्नत्रय की विशुद्धि देने वाली है और इससे रक्षा किये हुए मुनियों का समूह दोषों से लिप्त नहीं होता है। 5 महाव्रत, 5 समिति और 3 गुप्ति ये 13 चारित्र के अंग हैं। इन 13 प्रकार के चारित्रों को निर्दोष पालने वाले मुनि दोषों से लिप्त नहीं होते। और, जो निर्दोष हैं वे आत्मध्यानी बनते हैं और आत्मध्यान से ही निर्वाण मिलता है, अतएव जिसे मुक्ति की चाह है उसे पापों से दूर रहना चाहिए और आत्मतत्त्व के ध्यान में यत्न करना चाहिए।

श्लोक- 900

इति कतिपयवर्णेश्चर्चितं चित्ररूपं चरणमनघमुच्चैश्चेतसां शुद्धिधाम।
अविदितपरमार्थैर्यन्न साध्यं विपक्षैस्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषाः॥

अज्ञानियों द्वारा चारित्र की अशक्यता- कितने ही अक्षरों के द्वारा वर्णन किया गया जो अनेकरूप निर्दोष चारित्र है सो ऊँचे चित्त वालों का तो शुद्धता का मन्दिर है और जिसके परमात्मतत्त्व नहीं जगा है ऐसे पुरुषों के द्वारा यह असाध्य है। यह निर्दोष चारित्र जो ऊँचे चित्त वाले हैं, जिनको कल्याण की विशुद्ध भावना जगी है उनके लिए तो शुद्धता का मन्दिर है, वे तो शुद्धि प्राप्त कर लेते हैं और जिन्हें इस यर्थाथतत्त्व का भान नहीं हुआ ऐसे पुरुषों के द्वारा यह चारित्र धारण नहीं किया जा सकता। जो लोग विषयों के प्रेमी हैं उनसे यह चारित्र कैसे निभ सकता है? और, विषयों की रति तब ही मिटती वास्तविक मायने में जब विषयकषायों के विकारों से रहित केवल चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मतत्त्व का भान हो। जो लोग इस विषयरहित ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं करते और फिर भी लोकजालों से या लौकिक बड़प्पन से या अन्य-अन्य सत्संगों के कारण विषयों से दूर रहते हैं, फिर भी वे मूल से निर्विषय नहीं बन पाते हैं, क्योंकि उनके यह भाव

नहीं होता कि मेरा आत्मा विषयकषायों से रहित केवल जाननहार है, इस कारण सही मायने में विषयों की निवृत्त नहीं होती है। इसी प्रकार पापों से रहित मेरा आत्मा केवल ज्ञानमात्र है ऐसा अनुभव जगे बिना वास्तविक मायने में पापों से दूर भी नहीं हो सकते। तो इन अक्षरों के द्वारा जो कुछ चारित्र का वर्णन किया गया वह चारित्र ज्ञानियों के द्वारा तो धारण किया जा सकता है और जिन्हें अपना स्वरूप न विदित हो उनके लिए यह अशक्य है। ऐसे इस चारित्र को निर्दोष ज्ञानी पुरुष धारण करते हैं।

श्लोक- 901

सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनार्चितम्।

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्या भव्यः सपदि मुच्यते॥

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री द्वारा रत्नत्रय की सम्यक् साधना- तीनों लोक से पूज्य रत्नत्रय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के अनुसार अंगीकार करके भव्य जीव शीघ्र ही कर्मों से छूट जाते हैं। अब रत्नत्रय की महिमा बतायी जा रही है। इससे पहिले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया। ये आत्मध्यान के अंग हैं। अन्य लोग ध्यान के साधन प्राणायाम करना, कोई वस्तु का त्याग करना, प्रत्याहार करना, नियम संकल्प आदि करना मानते हैं। यहाँ आत्मध्यान का साधन बताया है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अब इस रत्नत्रय की महिमा गा रहे हैं। जो पुरुष इस रत्नत्रय को अपनी शक्ति के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री से धारण करता है वह कर्मों से छूट जाता है। जिस क्षेत्र में जितनी शक्ति से चारित्र धारण किया जा सकता हो, जिस परिस्थिति में, जिस समय में जिस प्रकार सम्यक्चारित्र अधिकाधिक धारण किया जा सकता हो ऐसी भावना होना चाहिए। दर्शनविशुद्धि आदिक 16 कारणों में एक कारण बताया है शक्तितः त्याग। इसका अर्थ कुछ लोग यों कर देते हैं कि शक्ति के अनुसार त्याग करें, अधिक न करें, शक्ति के अनुसार तप करें, शक्ति से ज्यादा न बढें। क्योंकि शक्ति के अनुसार बताया है। तो केवल एक दृष्टि का फेर है। बात वही है। उसका अर्थ यह लेना कि अपनी शक्ति न छिपाकर जितनी भी शक्ति अपने में है सारी शक्ति लगाकर त्याग करें। समस्त शक्तिपूर्वक तप करें। यद्यपि अर्थ वही आया लेकिन इस अर्थ में उत्साह भरा हुआ है और उस अर्थ में शिथिलता बसी हुई है। तो ऐसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं।

श्लोक- 902

एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चेतन्निबन्धनम्।

हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिमं पदम्।।

रत्नत्रय की श्रेयप्रधानता- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही सिद्धान्त का सर्वस्व है, मुक्ति का कारण है। जैसा अपना आत्मस्वरूप है वैसा श्रद्धान् आ जाय इसका नाम है सम्यग्दर्शन। जैसे मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हूँ; शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर से विविक्त एक परम ज्योति हूँ। इस प्रकार अपने आपका परिचय बने और ऐसा ही ख्याल बनाकर जब ऐसा ही ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगे तो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। और, ऐसा ही फिर उस आत्मा का ज्ञान बनाये रहना। कभी भी इस प्रकार की प्रतीति न जगे कि मेरा सुख किन्हीं बाह्यपदार्थों से आयगा। एक यह दृढ़ निर्णय रहे कि मैं ज्ञानरूप हूँ। मेरा ज्ञान मेरे से अपने आप प्रकट होता है। विषयकषायों के परिणाम इस ज्ञान में बाधा डालते हैं। यदि ये विषय आदिक परिणाम न हों तो यह ज्ञान अपने आप अधिक से अधिक विकसित हो जायगा। ज्ञान कमाने के लिए हमें अन्य श्रम न करना पड़ेगा, पर विषयकषायों के परिणाम दूर हों तो यह ज्ञान अपने आप पूर्ण विकसित होगा। मान लो कि किसी परिस्थिति में यह ज्ञान बहुत थोड़ा है। जो लौकिक कलायें है उनका ज्ञान नहीं है, तो नहीं है न सही, लेकिन यह ज्ञानी विरक्त होकर जब केवल अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का ध्यान बनायेगा तो कर्मों का क्षय होकर इसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जायेगा और केवलज्ञान से फिर लोकालोक का कोई पदार्थ अज्ञात नहीं रहता। जब हम किसी भी दूसरे पुरुष में, जीव में, परिवार में, मित्र में स्नेह न बसायें, किन्हीं दूसरे जीवों में अपने यश की वाञ्छा न करें, लोकेषणा न करें तो ऐसी स्थिति में एक बड़ा विश्राम मिलता है। यह जीव दुःखी है केवल दूसरे जीवों के स्नेह से। लोकेषणा का, यशकीर्ति का, सर्व पर का स्नेह हटे तो अपने आत्मा को अपने आपमें ही एक अपूर्व विश्राम मिलता है और उस उस विश्राम के बल पर इसे शुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभव होता है। तब इस ही प्रकार ज्ञानस्वरूप अपने आपका आलम्बन निरन्तर बनाये रहे तो कर्मों का क्षय होकर वह आनन्द सदा के लिए प्राप्त हो जाता है। तो यह रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और यही जीवों का हित है और यह रत्नत्रय ही एक प्रधान साधन है। इस जगत में हम किसकी शरण गहें जिससे हमको निराकुलता प्राप्त हो? यह सारा संसार मायारूप है। हम आप

सभी जीव अनादिकाल से नाना शरीरों को धारण करते हुए भटकते चले आये हैं और ऐसे ही संसार आगे अनेक जीवों का चलता रहेगा, उसमें सारभूत, शरणभूत कोई भी पदार्थ नहीं है। आज जो कुछ पास में है वह जब तक है तब तक भी सुख का कारण नहीं है, और अपने में बिछोह नियम से होगा। तो जगत में किसका शरण गहें कि शान्ति प्राप्त हो? एक अपने आपका ही शरण सच्चा शरण है। और, प्रभु का शरण भी हमें अपने आपकी शरण पा लेने का एक कारण है। अतः प्रभु का ध्यान भी शरण है। प्रभुभक्ति, आत्मा की उपासना इन दो कार्यों के अलावा कोई भी कार्य इस जीव को शान्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। तो यह रत्नत्रय ही इस जीव का प्रधानपद है।

श्लोक- 903

ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम्।

समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम्॥

रत्नत्रय में अव्ययपदलाभ की कारणता- निश्चय करके इस रत्नत्रय से परिपूर्ण होकर संयमी मुनि पूर्वकाल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जाते हैं और भविष्य में जायेंगे। मोक्ष नाम है निराकुल दशा का। जहाँ रंच भी आकुलता नहीं है उसका नाम है मोक्ष। अब सोचिये- हम आपको जो यह शरीर मिला है यह क्या निराकुलता का स्थान है? सारी आकुलताएँ इस शरीर के कारण ही लगी हुई हैं। प्रथम तो इस जीव को इस शरीर में मोह उत्पन्न होता है, यह शरीर मैं हूँ इसको ही लक्ष्य में लेकर मैं माना जा रहा है तब इसका साधन बनाने के लिए यत्न करेंगे। पर, कोई परपदार्थ इसके अधीन है नहीं, प्रत्येक पदार्थ की परिणति अपने आपमें है, तो परपदार्थ में अनुकूल परिणमन न देखकर आकुलित तो होंगे ही। जब इस शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो फिर यह भाव बनेगा कि मैं इस जगत में श्रेष्ठ कहलाऊँ। अरे किसकी निगाह में तुम श्रेष्ठ बनना चाहते हो? सभी जीवों जो संसार में दिख रहे हैं, ये सब कर्मों के प्रेरे हैं, इस शरीर का भार लादे हैं, कुछ समय बाद ये सब यहाँ से विदा हो जायेंगे। किनसे यहाँ बड़प्पन चाहते हो? ये जो सम्मान अपमान की बातें यहाँ चल रही हैं इनसे अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश उत्पन्न होते हैं। इस शरीर के कारण क्षुधा, तृषा, ठंड, गर्मी आदि अनेक प्रकार के क्लेश चलते रहते हैं। यह शरीर जिसको यह जीव सर्वस्व मानता है इस ही के कारण यहाँ के सारे क्लेश हैं, और जब यह शरीर मिला है तो इसका वियोग अवश्य होगा। जब वियोग होगा तब इसके क्लेश अधिक होता है। यों ही यहाँ के सारे प्राप्त समागमों का

विछोह अवश्य होगा। उनमें ममता का परिणाम बसाने से अन्त में विछोह के समय बड़ा क्लेश होगा। यहाँ कौनसी सारभूत चीज है सो तो बतावो। सारभूत चीज है केवल रत्नत्रय का अखण्ड परिपालन। अपने आपके श्रद्धान में कभी भी दोष न जगे, यह श्रद्धान पूर्ण दृढ़ रहे, मैं शरीर से भी न्यारा, कर्मों से भी न्यारा, रागद्वेष विकारों से भी न्यारा एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ। ऐसा श्रद्धान इसका दृढ़ रहे तो इसे शान्ति का पथ मिलेगा। यही धर्मपालन है। लोग धर्मपालन के लिए बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं, बड़े-बड़े खर्च करते हैं, पर अपने आपका सही श्रद्धान बनाये बिना धर्म नहीं हो सकता। अपने आपका ऐसा ध्यान बनना चाहिए कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, जब मेरा स्वभाव आनन्द है तो परवस्तुओं से मेरा क्या प्रयोजन? मैं स्वयं ही आनन्दघन हूँ, एक रागद्वेष करके हमने अपने आनन्द का घात किया है। ऐसा रागद्वेष आज ही मिटे तो वही परिपूर्ण आनन्द हमारे पास है, ऐसा अखण्ड सम्यग्दर्शन बने और फिर इस ही की जानकारी के लिए चित्त चाहे। मुझे अन्य पदार्थ की जानकारी बनाये रहने से कुछ न मिलेगा। मैं अपने आपके स्वरूप की जानकारी निरन्तर बनाये रहूँ तो मेरे कर्म कटेंगे, मोक्ष का लाभ होगा। धर्मपालन मोह के त्यागने से शुद्ध ज्ञानरूप अनुभव करने से हुआ करता है। संयमी मुनि जितने भी अब तक मोक्ष गए हैं और जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे वह सब रत्नत्रय का प्रताप है। अपने आपको ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव किया जाय, ऐसा ही अपनी ज्ञानदृष्टि में लिया जाय और परपदार्थ में कुछ परिणति न करके केवल ऐसा अनुभव करने में लग जाय, यही है रत्नत्रय का पालन, इसके प्रताप से ही समस्त संकट दूर होते हैं।

श्लोक- 904

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि।
दृश्यते न हि केनापि मुक्ति श्रीमुखपङ्कजम्॥

रत्नत्रयलाभ बिना मुक्तिलाभ की नितान्त असंभवता- इस रत्नत्रय को प्राप्त न होकर जीव करोड़ों जन्म धारण करने पर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। जैसे जिस कलपुर्जे से जो इंजन चलता वह उसी पुर्जे से चलेगा, अन्य पुर्जे से वह इंजन नहीं चल सकता। इसी प्रकार जिस कार्य की जो विधि है वह कार्य उसी विधि से होगा अन्य विधि से न होगा। मोक्ष किसे होना है इसका पहिले श्रद्धान तो करें। मोक्ष होना है आत्मा को, मोक्ष होना है कर्मों के बन्धन से। मोक्ष कहते हैं छुटकारा

अर्थात् छुट्टी पा जाने को। जैसे स्कूल में 4 बजे जब बच्चे छुट्टी पाते हैं तो कितना उछलते-कूदते, हँसते-खेलते हुए वहाँ से अपना पाटी बस्ता लेकर भागते हैं। तो वह किस बात की उन्हें खुशी हुई? कुछ खाने पीने को उन्हें मिल गया क्या? अरे उन्हें छुट्टी मिल गई स्कूली कामों से इस बात की उन्हें खुशी है, इसी प्रकार समझ लो अभी यह आत्मा कर्मों के विकट बन्धन में है। जिस काल में यह आत्मा इन कर्मबन्धनों से छूट जाएगा अर्थात् इन कर्मों से छुटकारा मिल जायगा उस काल में यह आत्मा मुक्त हो जायगा। तो किसे छुटकारा चाहिए, किससे छुटकारा चाहिए, इस बात का पहिले यथार्थ बोध होना चाहिए। आत्मा क्या चीज है, कर्म क्या चीज है इसका पहिले निर्णय करें। ये कर्म नोकर्म पौद्गलिक हैं, बन्धनरूप हैं, अचेतन हैं और जिसे छुटकारा दिलाना है वह मैं आत्मा चेतन हूँ, केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। मेरे स्वभाव में सर्व परपदार्थ छूटे हुए हैं। बाह्यपदार्थ कोई भी मेरे स्वभाव में नहीं पड़ा है। यदि मेरे स्वभाव में ये विकार अथवा ये बाह्यपदार्थ पड़े होते तो करोड़ों यत्न करने पर भी छूट नहीं सकते थे। ये सब औपाधिक हैं, मायारूप हैं, इनसे भिन्न अपने को निरखें तो अवश्य इनसे छुट्टी मिलेगी। जैसे कोई पुरुष किसी दुष्ट मित्र से फंस गया हो, उससे यदि छुटकारा पाना है तो पहिला तो यह कर्तव्य है कि दुष्ट मित्र की सारी दुष्टता का परिचय कर लें, क्या क्या छल किया करता है, उस परिचय से उसकी उपेक्षा हो जायगी। किसी की दोस्ती भंग करने का उपाय है उपेक्षा कर देना, उससे बोलचाल न रखना, अपने कार्य से प्रयोजन रखना, स्नेह न रखना। हमें इन कर्मों से और शरीर से छूटना है तो पहिले हम यह समझें कि मेरा सर्वस्व केवल ज्ञानमात्र है और यह कर्मों से, शरीर से छूटा हुआ है। यों सर्व विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपकी श्रद्धा हो तो नियम से शरीर से छुटकारा कभी न कभी हो ही जायगा। अपने को ऐसा अनुभव करना चाहिए परिवार के बीच रहकर भी, वैभव के बीच रहकर भी कि मैं इस परिवार और वैभव से न्यारा केवल एक ज्ञानरूप सत्पदार्थ हूँ, ऐसा अनुभव बने तो यह बहुत ऊँचा तपश्चरण है। अपना ज्ञान सही रहे, विषयकषायों को न चाहे तो यह एक बहुत ऊँचा आन्तरिक तपश्चरण है। आत्मा का परिचय इस ही तपश्चरण से होता है।

श्लोक- 905

दृग्बोधचरणान्याहुः स्वमेवाध्यात्मवेदिनः।

यतस्तन्मय एवासौ शरीरी वस्तुतः स्थितः॥

आत्मा की दर्शनज्ञानचारित्रात्मकता- जो अध्यात्मतत्त्व के जानने वाले हैं वे सत्य ज्ञान और चारित्र को एक ही आत्मरूप देखते हैं। जैसे यह दीपक की ज्योति जल रही है तो इसमें कई तत्त्व नजर आ रहे हैं, यह गर्म है, यह प्रकाशरूप है, यह दाहकरूप है। पर ये तीनों क्या इस दीपक में अलग-अलग पड़े हैं? ये तो एक ही रूप हैं। तो जैसे व्यवहार में भेद करके हम इसे तीन रूपों में निहारते हैं ऐसे ही यह आत्मा तो जिस रूप है उस ही रूप है। पर इसे पहिचानने के लिए हम कहते हैं कि इसमें श्रद्धा है, ज्ञान है और चारित्र है, पर श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये अलग-अलग वस्तु नहीं हैं, क्योंकि परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो यह आत्मा उन तीनों में तन्मय है, न श्रद्धा से अलग, न ज्ञान से अलग, न चारित्र से अलग। तीनों मय यह ही मैं आत्मा हूँ, यद्यपि भाव और भावना के भेद से भेद है फिर भी वास्तव में एक है। मैं एक आत्मा हूँ और मेरा भाव है श्रद्धा करना, आचरण करना, ये तीनों मुझसे अलग कुछ नहीं है। मेरे में तो एक परिणति होती रहती है, उस एक परिणति को ही समझाने के लिए हम तीन रूप में बताते हैं। मैं क्या करता हूँ? किसी न किसी रूप में विश्वास बनाये रहता हूँ। मैं क्या करता हूँ? अपना और परपदार्थ का ज्ञान किया करता हूँ, और, क्या किया करता हूँ? किसी न किसी तत्त्व में चाहे पर में, चाहे स्व में अपने को रमाये रहता हूँ, लगाये रहता हूँ, ऐसी हममें तीन कला हैं। जब ये तीन तत्त्व मेरे आत्मा के लिए ही लग जायें अर्थात् मैं अपने स्वरूप का श्रद्धा करूँ, अपने ही स्वरूप का ज्ञान करूँ और अपने ही स्वरूप में रम जाऊँ, जब मैं ऐसा यत्न करूँगा तो एक निर्विकल्प दशा बनेगी, उससे कर्म कटेंगे, मुक्ति प्राप्त होगी। तो सर्वसंकटों से छूटने का उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इसके ही प्रताप से आत्मा का वह उत्कृष्ट ध्यान बनता है जिस ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है। ऐसा जानकर एक निर्णयपूर्वक हमें यह उद्यम करना चाहिए कि हमारा श्रद्धा, ज्ञान और आचरण सही बने। मेरा चारित्र रहेगा तो मेरा सब कुछ है, मैं अपने स्वरूप से गिर जाऊँगा तो मेरे लिए जगत में कुछ भी हित रूप नहीं है। ऐसा अनुभव करने के लिए और कुछ विशेष साधना न बने तो थोड़ा बहुत ज्ञान तो यह है ही कि मैं सबसे न्यारा हूँ, तो ऐसा ही ज्ञान करके परपदार्थों का उपयोग छोड़ दें और अपने में विश्राम पायें तो यों स्वयं अपने में अपनी ज्योति की झलक बन जायगी।

श्लोक- 906

निर्णीतेऽस्मिन्स्वयं साक्षान्नापरः कोऽपि मृग्यते।

यतो रत्नत्रयस्यैषः प्रसूतेरग्रिमं पदम्॥

रत्नत्रय का अग्रिम पद- इस आत्मा के स्वयं निर्णय किए जाने पर अन्य और कुछ भी यहाँ ढूँढने में नहीं मिलता है। जब अपने ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि होती है तो यहाँ अन्य कुछ नहीं मिलता है। देखिये इसी दृष्टि का हठ करके कोई तो यह कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व सर्वत्र एक ही है। क्योंकि यहाँ कुछ नहीं मिला। तो कोई कहते हैं कि केवल एक ज्ञानमात्र ही दुनिया है। इस दुनिया में अजीव पदार्थ कुछ है ही नहीं, कोई कहते हैं कि यह दुनिया बस शून्य ही शून्य है। क्योंकि अपने आत्मा में आपका सही निर्णय करने पर यहाँ कुछ नहीं मिला ना तो ऐसी चर्या सुनकर कल्याणप्रेमीजन कुछ से कुछ अपना निर्णय बना सकते हैं, पर स्याद्वाद से इन सबका सही निर्णय होता है। जो लोग कहते हैं कि यहाँ और कुछ भी नहीं है, सब शून्य ही तत्त्व है तो उसका अर्थ है कि एक आत्मतत्त्व के सिवाय और सब शून्य है एक आत्मानुभव की स्थिति में। तो जब स्वयं आप ही आत्मा का साक्षात् निर्णय करते हैं तो केवल यह आत्मा ही प्रतीत होता है और रत्नत्रय की उत्पत्ति का मुख्य पद भी यह आत्मा ही है। सम्यग्दर्शन इस आत्मतत्त्व की दृष्टि से उत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व के अवलम्बन से विकसित होता है। और सम्यक्चारित्र इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व में ज्ञानरूप से बने रहने का नाम है। यों रत्नत्रय का उत्पादक भी यह आत्मतत्त्व है।

श्लोक- 907

जानाति यः स्वयं स्वस्मिन्स्वस्वरूपं गतभ्रमः।

तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम्॥

वास्तविक दर्शन ज्ञान चारित्र का अधिकारी- जो पुरुष अपने में अपने ही से अपने निजरूप को भ्रम छोड़कर जानता है वही उसका विशिष्ट ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है और वही सम्यग्दर्शन है। जैसे छहढालो में भी कहा है- परद्रव्यनतै भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भलो है। परद्रव्यों से भिन्न निज आत्मतत्त्व में रुचि जगना सो सम्यग्दर्शन है और इस आत्मस्वरूप का ज्ञान होना सो सम्यग्ज्ञान है और इस आत्मस्वरूप में ही स्थिर होना सो सम्यक्चारित्र है। तीनों कुछ जुदे-जुदे नहीं हैं, किन्तु जब हम व्यवहार के उपाय से जानना चाहते हैं तो यह भेद उत्पन्न होता है। इन तीन को हम अनेक शक्तों में निरख सकते हैं इस रत्नत्रय को हम उत्पादव्ययध्रौव्य के रूप में भी निरख

सकते हैं। जैसे कि पुरुषार्थसिद्धि में कहा है कि विपरीत अभिप्राय को दूर करके अपने आत्मतत्त्व को भली प्रकार निश्चय करके आत्मा में स्थिर हो जाने का नाम है पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय। इसमें सम्यग्दर्शन को व्ययरूप में देखा है, सम्यग्ज्ञान को उत्पादन में देखा और सम्यक्चारित्र को ध्रौव्यरूप में देखा। विपरीत अभिप्राय के विनाश का नाम है सम्यग्दर्शन क्योंकि सम्यक्त्व के लक्षण में हम कुछ भी शब्द कहें तो वे उतने निर्दोष न बन पायेंगे कि जिससे सम्यग्दर्शन का ही बोध हो, और कुछ न आये। जैसे आत्मा का अनुभव करना लो यह तो ज्ञान बन गया। जितने भी अनुभवन हैं वे ज्ञान की पर्याय हैं। आत्मा की रुचि करना लो यह चारित्र बन गया, अनुराग करना, रुचि करना यह चारित्र का अंग है। आत्मा की प्रतीति, प्रत्यय, अवबोध ये सब एकार्थक है। तब विपरीत अभिप्राय के विनाश का नाम सम्यग्दर्शन है। इस लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्ति जैसे दोष नहीं आ पाते। यद्यपि सम्यग्दर्शन के लक्षण रुचि, प्रतीति, अनुभूति इन शब्दों से भी कहे गए हैं और चूंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र एक आत्मा के ही परिणमन हैं अतः सूक्ष्मतया अव्याप्ति अतिव्याप्ति पर दृष्टि न देना चाहिए। फिर भी आचार्य अमृतचन्द्र सूरि एक सूझ की बात कह रहे हैं कि विपरीत अभिप्राय को निर्जन कर देने का नाम है सम्यग्दर्शन। अब विपरीत अभिप्रायरूप होने से क्या बात प्रकट होती है, उसको सम्यक्त्व शब्द से कह सकेंगे। सम्यक्त्व मायने स्वच्छता सम्यक् स्वच्छ ये एकार्थक शब्द हैं। सम्यग्दर्शन में क्या रहता है? एक स्वच्छ परिणति रहती है। सम्यग्ज्ञान आत्मतत्त्व का भली प्रकार निर्णय करके यह उत्पादरूप है और फिर उस ही आत्मतत्त्व में स्थिर हो जाना यही सम्यक्चारित्र है। तो ये तीनों के तीनों आत्मस्वरूप हैं। जो पुरुष अपने आपको अपने ही द्वारा भ्रमरहित होकर अपने में निरखता है, जानता है, रमता है वही रत्नत्रयमय है।

श्लोक- 908

स्वज्ञानादेव मुक्तिः स्याज्जन्मबन्धस्ततोऽन्यथा।

एतदेव जिनोद्दिष्टं सर्वस्वं बन्धमोक्षयोः॥

बन्ध मोक्ष का सर्वस्व मर्म- आत्मा के ज्ञान से ही मुक्ति होती है और आत्मा में ज्ञान बिना संसार का बन्धन होता है। जिनेन्द्रदेव ने बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में यह सर्वस्व प्रतिपादित किया है। मुक्ति का अर्थ है छूटना। छूटकर क्या बना जायगा और छूटना किसे है, और छुड़ाना क्या है, ये तीन बातें जिनके स्पष्ट रहती हैं उन्हें ही मुक्तिमार्ग की सिद्धि होती है। छूटना किसे है? एक

ज्ञानस्वरूप अहं प्रत्ययबोध इस सत् को छूटना है। किससे छूटना है? इस ज्ञानमात्र मुझ आत्मा को अपने ही सत्त्व के कारण सहज जो भी बात इसमें हुआ करती है, उससे अतिरिक्त उससे विलक्षण जितने भी भाव हैं, विभाव हैं, विकार हैं उनसे छूटना है। छूटकर स्थिति क्या बनेगी? एक स्वच्छ ज्ञानप्रकाशरूप परिणमन रहेगा। इन तीन का निर्णय बसा हो तो मुक्ति का मर्म जान सकते हैं। यह बात अन्य लौकिक स्थितियों की भी है। लोकव्यवहार में भी जब छूटना कहा जाय तो उसमें भी ये तीन बातें निहित रहती हैं। छूटना किसे है, छूटना किससे है और छूटकर स्थिति क्या बनेगी? जैसे कोई विद्यार्थी स्कूल से छुट्टी पाकर खुश होता है तो उसमें भी यही तीन बातें गर्भित हैं। छूटना किसे है? उस विद्यार्थी को। छूटना किससे है? उस स्कूल के कार्यों से और छूटकर स्थिति क्या होगी? स्कूल के सारे बखेड़ों से अलग होकर खेलेंगे, कूदेंगे, घूमेंगे। यही बात जेल से छुट्टी पाने वाले की है। जेल से छूटना किसे है? जो जेल में बन्द है उसे। छूटना किससे है? जेल के सारे दंदफंदों से। छूटकर स्थिति क्या बनेगी? जेल के सारे कष्टों से छुट्टी मिल जायगी। तो इसी प्रकार से मुक्ति का मर्म जो जानते हैं उन्हें भी इन तीन बातों का निर्णय होता है। यह मुक्ति किसे प्राप्त होगी? आत्मा को। किससे मुक्ति प्राप्त होगी? सर्व कर्मजालों से। स्थिति क्या होगी? जैसा स्वयं आनन्दस्वरूप है वैसा प्रकट हो जायगा। जो व्यक्ति मुक्ति का मर्म जानते हैं उन्हें यह अन्तः प्रतीति रहती है कि यह मुक्ति तो आत्मज्ञान से ही बनेगी। आत्मज्ञान न बनने के कारण ही इस संसार में आवागमन का चक्र लगा हुआ है। जो अपने मुक्त स्वरूप को नहीं समझ सकते उनकी दृष्टि परपदार्थों में पहुंचेगी और उसके फल में इस संसार में जन्ममरण के क्लेश सहन करने होंगे। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है और आत्मज्ञान के बिना इस संसार का बन्धन होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने बँध मोक्ष के स्वरूप में मौलिक बात बताया है।

श्लोक- 909

आत्मैव मम विज्ञानं दृग्वृत्तं चेति निश्चयः।

मत्तः सर्वेऽप्यमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः।।

ज्ञानी का निश्चय- मेरा आत्मा ही विज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है ऐसा मेरा निश्चय है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त ये सब भाव बाह्य हैं और संयोगस्वरूप हैं। जिसे हटना है, जिससे हटना है, उन दोनों का यथार्थस्वरूप कोई जाने तब वह हट सकता है। कोई बाहर

में ही सोचे कि मुझे इस घर से हटना है, इनके नियंत्रण से हटना है, इस शरीर से हटना है, यहाँ तक भी कोई पर से हटने की बात सोचे तो उसे वह झलक नहीं मिल सकती, वह भेदविज्ञान नहीं मिलता जिसके प्रताप से मुक्ति होती है, ये भी परतत्त्व है, परपदार्थ है, इनसे भी न्यारा होना है लेकिन साक्षात् भेदविज्ञान तो अपने स्वभाव और औपाधिक विकारों के बीच करना है। भेदविज्ञान जगे तो ये सब भेदविज्ञान होंगे ही। पर बाह्य के इन आकार वाले पदार्थों से हम अपने को भिन्न निरख लें उसके साथ नियम नहीं है कि अपने शुद्धस्वरूप को यथार्थ भिन्न परख सकूँ। मैं घर वैभव से न्यारा हूँ ऐसा भेद करके भी कोई यह समझ सकता है कि मैं तो यह हूँ, जो यह शरीर है और मैं तो यह हूँ जो ऐसी पोजीशन बनाता हूँ, ऐसा मौज लेता है। जैसा परिणमन है उस परिणमनरूप अपने को मानते हुए घर मकान से भी न्यारा समझ सकता है, लेकिन भेदविज्ञान नहीं जगा। यों तो अनेक लोग द्वेषवश होकर घर भी छोड़ देते हैं, घर से भाग जाते हैं तो क्या वह भेदविज्ञान की बात हुई? अरे भेदविज्ञान की बात तो तब हो जब सर्व से विविक्त अपने आत्मतत्त्व को निरख ले। इस आत्मतत्त्व का परिचय होने पर फिर अन्तरंग से कोई आकांक्षा नहीं रहती है। सबसे बेढंगी आकांक्षा मन वाले जीवों में लोकयश की हुआ करती है। लेकिन जिसे ऐसे विशुद्ध निज अन्तस्तत्त्व का परिचय होता है वह ऐसी बेढंगी अटपट आकांक्षाएँ नहीं करता है। क्या होगा यश से? यह तो स्वप्नवत् बात है। किन्हीं स्वार्थी लोगों ने प्रशंसा कर दी तो उससे इस आत्मा को क्या लाभ मिलता है? वह आत्मपरिचयी पुरुष समझता है कि मैंने यदि अपने अन्तस्तत्त्व से विलग होकर बाह्य में यश की चाह की तो इसके फल में क्लेश भोगना होगा। ये जगत के कोई भी मनुष्य मेरे साथी नहीं हो सकते। जिस अपने शुद्ध स्वरूप का परिचय हुआ है वह बेढंगी आकांक्षाएँ नहीं करता है। ये सब केवल संयोगरूप है।

इच्छादिकों की संयोगलक्षणता होने से बाह्यरूपता- जैसे चूल्हे पर बटलोही चढ़ा दिया तो पानी गरम हो गया। यदि यह पूछा जाय कि पानी में जो गर्मी है वह संयोगरूप है या तादात्म्यरूप है तो अब- देखिये इसका उत्तर। एक दृष्टि से तो यह उत्तर मिलेगा कि पानी में स्पर्श गुण है और वह गुण इस समय गर्मी रूप भी है, वह गरम जल का तादात्म्य रखता है लेकिन जब दृष्टि से निरखते हैं तो यदि यह गर्मी जल में तादात्म्यरूप हो तो जल तब भी है और जब तक रहे तब तक यह गर्मी रहना चाहिए, और, चूँकि जल में यह गर्मी अग्नि का संयोग पाकर हुई है अतएव गर्मी का जल में संयोग है तादात्म्य नहीं है। यद्यपि दोनों दृष्टियों से दोनों बातें निरखी जा सकती है फिर भी रुचि भेद से क्या समझना चाहिए, यह उनकी अलग-अलग बात बन जाती है। जैसे जो स्वर्ण का शुद्ध स्वरूप जानता है वह किसी मलिन गहने को कसौटी पर कसकर समझ तो सही जाता है, इसमें यह है स्वर्ण, इतनी मलिनता है, एक यों बोलता है, और जिसे शुद्ध स्वर्ण की रुचि तीव्र है

और उसके ही मन में एक आस्था तीव्र बनी हुई है तो वह उसे कसकर शीघ्र यह कह देगा कि यह क्या पीतल लाये हो? इसी प्रकार जिस ज्ञानी को आत्मा के उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप में तीव्र रुचि जगी है वह पुरुष ही क्रोधादिक कषायों को जो कि एक दृष्टि से देखने पर जीव में तादात्म्य रूप से रह रहे हैं फिर भी वह एकदम कह देगा कि ये सब तो परभाव हैं। इनका मुझमें संयोगमात्र है इसका तादात्म्य नहीं है। क्या क्रोधादिक विकारों का आत्मा में तादात्म्य नहीं है? एक दृष्टि से तादात्म्य है, जीव के जीवत्व में ही वे क्रोधादिक परिणमन हैं पर एक दृष्टि से चूंकि वे जीव के साथ सदैव नहीं रहते हैं और कर्मरूप परद्रव्यों का निमित्त पाकर होते हैं इस कारण जीव में नहीं हैं, ये संयोगभाव हैं, ऐसी ही दृष्टि को रखकर समयसार जीव अजीवाधिकार में बहुत विस्तार के साथ आचार्यदेव ने खूब बताया है शरीर में नहीं, कषायें में नहीं, यहाँ तक कि संयोग के स्थान में नहीं, विशुद्धि का स्थान भी मैं नहीं, अध्यात्म स्थान भी मैं नहीं, उन सबको अजीव ठहराया है, जीव तो यह मैं एक शुद्ध ज्ञानभाव हूँ।

आत्मतत्त्व का परमार्थ स्वरूप- समयसार में जहाँ ज्ञायक आत्मा का लक्षण पूछा कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है? तो कहा गया कि आत्मा न प्रमादसहित है, न प्रमादरहित है, न कषायसहित है, न कषायरहित है किन्तु वह तो वही है जो ज्ञात होता है। जिसे यदि व्यवहारभाषा में कहते हैं तो वह तो ज्ञातामात्र है, ज्ञायकस्वरूप है, आत्मा के शुद्धस्वरूप पर कितनी अभिरुचि है ऐसी दृष्टि रहने वाले की अन्यथा जब कोई सुनेगा कि यह कह रहे हैं कि आत्मा न तो कषायसहित है और न कषायरहित है तो एकदम शंका दौड़ उठेगी कि कषायसहित नहीं है यह तो ठीक है पर कषायरहित भी नहीं है यह तो ठीक नहीं है। आत्मा को कषायरहित है लेकिन किसी भी वस्तु के स्वरूप को समझना हो तो विधिपूर्वक ही समझा जायगा, निषेधपूर्वक नहीं। आत्मा कषायरहित है ऐसा यदि निर्णय करते हो तो कषायरहित तो अनेक चीजें हो सकती है। पुद्गल कषायरहित हैं, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि भी कषायरहित हैं, उससे जीव की क्या पहिचान हुई? जैसे किसी पुरुष की पहिचान करना हो और परिचय देने वाला निषेध निषेध की बात कहे, यह मामा भी नहीं, फूफा भी नहीं, व्यापारी भी नहीं, यों अनेक बातों को मना करता रहे तो मना मना करते रहने से उस पुरुष का परिचय नहीं हो पाया। यद्यपि वे भी परिचय के साधक हैं, मगर सीधा परिचय नहीं होता। तो आत्मा न कषायसहित है और न कषायरहित है किन्तु वह तो जो ज्ञात हो सो ही है अथवा कह लीजिए कि वह ज्ञानमात्र है। अब इस सम्बन्ध में कुछ और दृष्टि से भी विचारिये। आत्मा कषायसहित तो है ही नहीं, पर कषायरहित यदि कह दिया जाय तो इसमें यह भाव आया कि पहले आत्मा में कषायें थी और अब दूर हो गयी। तो जब कषायें थी तब का आत्मा तो टूट गया ना इस ज्ञानधारा में। तो ऐसा खण्डित आत्मा नहीं है। आत्मा केवल ज्ञानमात्र है। तो मेरा आत्मा ज्ञानरूप है,

दर्शनरूप है, यह एक स्वच्छस्वरूप है चारित्र है तो उसका निश्चय है, ऐसी सब बातें मुझमें बाह्य हैं, संयोगरूप हैं, ऐसा अनुभव करने से फिर रत्नत्रय में और आत्मा में कोई भेद नहीं रहता है, वह रत्नत्रय जिसके प्रकट हो वह आत्मा के ध्यान का पात्र है।

श्लोक- 910

अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्याऽपेक्षया स्वयम्।
व्यक्तीभवति सद्दयानवहिनाऽत्यन्तसाधितः॥

ध्यानाग्नि से साधित होने पर आत्मा के सिद्धात्मत्व की व्यक्ति- यह आत्मा संसार अवस्था में भी अपनी शक्ति की अपेक्षा से सिद्ध स्वरूप है। सिद्ध का स्वरूप जैसा कि गतिरहित, इन्द्रियरहित, कषायरहित, योगरहित, वेदरहित, कषायरहित, केवल ज्ञानमय जैसा व्यक्त है वैसा होता है। हम आप संसारी जीवों में भी वह शक्ति है, अतः शक्ति की अपेक्षा से यह संसार अवस्था में भी सिद्धस्वरूप है। और समीचीन ध्यानरूपी अग्नि से उसकी साधना की जाय तो व्यक्तरूप सिद्ध होता है। जैसे जो स्वर्ण की खान हैं उन खानों में स्वर्ण मौजूद है अपने ढंग से शक्तिरूप मौजूद है। जब उस मिट्टी को भट्टी में डालते हैं या और और उपायों से उसे पोंछते हैं तो उसमें स्वर्ण व्यक्त हो जाता है इसी प्रकार कर्म और शरीर के बन्धन में पड़ा हुआ यह संसारी जीव है तो भी इसमें शक्ति सिद्ध के समान ही है। यदि स्वयं अपने आपमें वह गुण न होता तो अनेक उपाय किए जाने पर भी वह गुण प्रकट नहीं हो सकता। जैसे गेहूँ में चने के पेड़ होने की शक्ति नहीं है तो कितने ही उपाय किये जायें पर गेहूँ बोकर चने के अंकुर उत्पन्न नहीं किए जा सकते। तो इन समस्त आत्माओं में वही शक्ति है जो सिद्धप्रभु में है और इतना ही नहीं अभव्य जीव भी हो तो भी शक्ति उसमें वही है जो सिद्ध में है। शक्ति के व्यक्त होने को योग्यता नहीं है। तो सिद्ध स्वरूप ही ये समस्त संसारी जीव शक्ति अपेक्षा हैं और जब अष्टकर्म का विनाश होता है तो व्यक्त रूप में सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

श्लोक- 911

एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम्।
अतोऽन्यो यः श्रुतस्कन्धः स तदर्थं प्रपञ्चितः॥

समस्त श्रुताध्ययन का प्रयोजन ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व का परिचय- यह आत्मा ही परमतत्त्व है, यही शाश्वत ज्ञान है और जितने भी श्रुत हैं, द्वादशांग शास्त्र हैं समस्त शास्त्ररूप रचना इस आत्मा को ही जानने के लिए विस्तृत हुई है। जैसे लौकिक विद्याओं का सीखना एक आजीविका के लिए और आसपास के जनसमूह में कुछ प्रशंसा बने केवल इसके लिए है, और जिसे ये दोनों बातें प्राप्त हो जायें तो वह भी अनुभव करता, और लोग भी कहते हैं कि विद्या का अच्छा लाभ उठाया। उस स्थिति पर पहुँचने पर फिर लौकिक विद्या के सीखने की जरूरत नहीं रहती। उसका फल ही पा लिया। ऐसे ही जितने भी शास्त्राभ्यास है, ज्ञानार्जन हैं, शास्त्रों का स्वाध्याय है ये सब एक आत्मतत्त्व को जानने के लिए ही है। इससे आगे और कुछ फल नहीं चाहता। फिर तो इस आत्मज्ञान के प्रताप से उसका फल जो निर्वाण है उसकी प्राप्ति होगी। तो यह ही आत्मा एक तत्त्व है और यही शाश्वत ज्ञान समस्त शास्त्राभ्यासों का फल है। शास्त्र का ज्ञान शास्त्र की पंक्ति रटने के लिए नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र का स्वाध्याय केवल नियमपालन के लिए नहीं है अथवा उसमें कुछ जानकारी कर ले नई बात में उससे दिल खुश होना इसके लिए भी नहीं है किन्तु उस समस्त ज्ञान से इस आत्मतत्त्व का परिचय पा ले, अनुभव कर ले यह प्रयोजन होना चाहिए। और, शास्त्र के विषय में भी यह एक संक्षेप में बात है कि जीव और पुद्गल का स्वरूप विस्तार जान जाय और साथ ही यह समझ ले कि जीव और पुद्गल न्यारे-न्यारे तत्त्व हैं। पुद्गल से जीव जुदा है, इसके लिए शास्त्रज्ञान और भेदविज्ञान इस विशुद्ध सहज स्वरूप आत्मतत्त्व के अनुभव के लिए है यह बात पायी जाती है तो शास्त्र का फल पाया। यही एक सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। यह सारा संसार स्वप्नवत् है, मायाजाल है, यहाँ केवल निज आत्मतत्त्व का ज्ञान बने, उसकी ही धुन बन जाय, वह ही चित्त में समा जाय, इसकी ओर ही झुकाव बना रहे ऐसी बात यदि बन सकती है तो भले ही लौकिक जन इसे मूर्ख कहें, अथवा यों कहें कि यह बड़े कष्टों में है पर वह तो निराकुलता का अनुभव किया करता है, यही आत्मतत्त्व का अनुभव सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है।

श्लोक- 912

अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम्।

यः स्वरूपे लयं प्राप्तः स स्याद्रत्नत्रयास्पदम्॥

रत्नत्रयास्पद आत्मा- जो मुनि कल्पनाजाल को दूर करके चिदानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व में लय को प्राप्त हो जाता है वही निश्चय रत्नत्रय का स्थान है। धर्म और धर्मी कहीं अलग नहीं पाये जाते। जैसे कोई पूछे कि जैनधर्म क्या है और जैनधर्म के मानने वाले यदि शान्त हैं, न्याय प्रिय हैं, हितकारी वचन बोलने वाले हैं तो उनको ही दिखा दीजिए, लो यह है जैनधर्म, और लोग भी धर्मात्माओं के व्यवहार से धर्म की परख करते हैं और फिर निश्चय मार्ग में तो धर्म धर्मी जुदे तत्त्व कहीं नहीं हैं। एक ज्ञानस्वरूप की दृष्टि होना यह तो है धर्म और ज्ञानस्वरूप का जो द्रष्टा है वह है धर्मी। यह धर्मभाव उस धर्मात्मा पुरुष से कहीं जुदा नहीं है। वही निश्चयरत्नत्रय का स्थान है जो कल्पनाजाल को दूर करके अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में लय को प्राप्त होता है। कल्पनाजाल का अर्थ है मोह रागद्वेष भाव से प्रेरित होकर जो ज्ञान की वृत्तियाँ चलती हैं वे सब कल्पनाएँ हैं। ज्ञान तो अपना काम करता ही रहता है, उसके साथ रागद्वेष का पुट हो तो वे ज्ञानवृत्तियाँ कल्पनाओं का रूप रख लेती हैं और वहाँ भी विश्लेषण करके देखो तो ज्ञान का जानन कार्य है, वह ज्ञानरूप ही है और वहाँ जो कुछ भी बिगाड़ आया है वह सब रागद्वेष की चीज है। कल्पनाजाल छूटे अर्थात् रागद्वेष की वासना छूटे तो इसके फलस्वरूप अपने उस शुद्ध ज्ञानमात्र चित्स्वभाव चित्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्व में मग्नता बने तो वही पुरुषार्थी पुरुष निश्चय रत्नत्रय का पात्र होता है। जिसके ऐसे निश्चयरत्नत्रय का लाभ होता है उसके आत्मा का परमध्यान बनता है और आत्मा के उत्कृष्ट ध्यान के प्रसाद से संसार के समस्त संकट दूर हो जाते हैं।

श्लोक- 913

सुप्तेष्वक्षेषु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि।

वीतविश्वविकल्पोऽसौ सः स्वदर्शी बुधैर्मतः॥

आत्मदर्शी आत्मा- जो मुनि इन्द्रिय के सोते हुए में तो जागता है और आत्मा में ही आत्मा को देखता है और समस्त विकल्पों से रहित है उसको ही विद्वान पुरुषों ने आत्मदर्शी माना है।। इन्द्रियां सो रही हैं और आत्मा जाग रहा है अर्थात् जहाँ इन्द्रियां अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती, जो कि इन्द्रिय के विषय कहे जाते हैं, स्पर्शन का विषय स्पर्श, रसना का विषय अनेक प्रकार के रसों का स्वाद लेना, गंध का विषय सुगंध लेना और नेत्र का विषय मन को हरण करने वाले सुन्दर रूपों को निरखना और कर्ण का विषय जो राग को, विषय को पोषण करें ऐसे वचनों को सुनना। इन पञ्चेन्द्रिय के विषयों में जो सोता है अर्थात् विषय जिनके जागृत नहीं हैं, ऐसा आत्मा जाग रहा है, ज्ञानतत्त्व जागृत है वह मुनि आत्मदर्शी कहा जाता है। आत्मा तो एक उपयोगमात्र है, वह उपयोग करता रहता है। अब वह उपयोग यदि इन्द्रिय के विषयों में बनता है तो बस आत्मा जन्ममरण में गया, मोक्षमार्ग से विलग हुआ और उसे शुद्ध निराकुलता भी उत्पन्न नहीं होती। उसे आनन्द का अनुभव भी नहीं होता। विषयों की प्रीति से किसी ने आनन्द पाया भी है आज तक? जिस विषय में प्रीति हुई प्रथम तो उसकी अधीनता आ जाती है, जिनसे मोह जगा उन जीवों में आकर्षण बना तो वह पराधीन बन गया। अब अपने आपको वह विषयाभिलाषी पुरुष अनेक विपत्तियों में डाल लेगा। जिस किसी पर भी विषय प्रेम हुआ हो उसके अधीन बन जाता है। प्रथम आपत्ति तो यह है और जहाँ पर की अधीनता बनी वहाँ इसका सारा आनन्द समाप्त हो गया। रातदिन शल्य बनी रहेगी, चित्त में प्रसन्नता न रहेगी, अच्छा सत्संग भी न रुचेगा। सारे अनर्थ विषयाभिलाषी पुरुष के लग जाते हैं। जिसने इन इन्द्रियों को सुला दिया वह कभी विषयों में प्रवृत्त नहीं होता और उसका ज्ञान जागृत रहता है।

आत्मदर्शी की अभयता- जो अपने सही स्वरूप के निकट बना रहे “मैं यह हूँ” यों प्रतीति रखे वह पुरुष आत्मदर्शी है। आत्मदर्शी अपने को अभय अनुभव करता है। उसे अब कोई पीड़ा कर सकने वाला नहीं है, ऐसे ही यह आत्मज्ञानी पुरुष ज्ञानानन्दस्वरूप निज सहज आत्मतत्त्व की ‘गोद में बैठ’ जाता है, उसके निकट रहता है, अपने को एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है इसके फल में वह अभय हो जाता है। उसे अब जगत में कोई शंका नहीं रही। शंका काहे की? शंका दो बातों में होती है- एक तो धन वैभव की आशा रखी हो तो उसके लाभ में कमी न हो जाय अथवा लाभ न रुक जाय ऐसी शल्य में शंका रहती है और दूसरे- जीवन की यदि आशा हो तो कहीं मैं मर न जाऊँ ऐसे भय के कारण शंका रहती है, किन्तु ज्ञानी पुरुष जिसको कि सही मायने में अपने ज्ञानस्वरूप में रुचि जगी है और इस ही आत्मतत्त्व के निकट बने रहने की जिसकी धुन बनी है जिसके प्रसाद से यह सारा दृश्यमान जगजाल मायारूप दिखता है, कहीं अन्यत्र चित्त नहीं जाता, धन वैभव की प्राप्ति से वह अपने को लाभ नहीं समझता और मरण हो जाय तो इसमें भी अपना

विनाश नहीं समझता वह पुरुष आत्मदर्शी है। लोक में भी बहुत से गृहस्थजन ऐसे मिलते हैं जिनको लालच कम होता है, सन्तुष्ट रहते हैं। एक गरीबी के कारण कोई चारा नहीं होता, सन्तुष्ट रहते ऐसी बात नहीं कह रहे किन्तु ऐसे पाये जाते हैं कि जिनकी यह चाह है कि मुझे वैभव बढ़ाने से क्या लाभ है? वैभव बढ़ाने की चित्त में चाह नहीं रहती है। चूंकि गृहस्थी है इसलिए साधारण गुजारा चलाने का साधन बनाये रहते हैं और सत्संग की ओर, ज्ञानार्जन की ओर उनकी प्रगति चलती है ऐसे लोग अब भी पाये जाते हैं। तो ऐसा यहाँ भी भेद नजर आ रहा है। कोई लोग विषयों में कम रुचि रखते हैं, विषय साधन एक विपदा सा उन्हें जँचते हैं ऐसे गृहस्थजन भी आजकल मिलते हैं, फिर जिनमें एक उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान जग गया ऐसे साधु संतों को तो वह आत्मा अति निकट है, उनके इन्द्रिय विषय सोये हुए हैं और ज्ञानोपयोग जाग रहा है जिसके कारण अपने आत्मा में ही अपने आत्मा को देखते हैं और निर्विकल्प स्थिति का अनुभवन किया करते हैं ऐसे पुरुष आत्मदर्शी हैं।

श्लोक- 914

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्त्त परमाक्षरम्।

निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम्॥

अपने को निःसंकट अविनाशी देखने का उपदेश- हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा में ही रहता हुआ अपने को सब क्लेशों से रहित अमूर्तिक परम अविनाशी विकल्पों से रहित इन्द्रिय से दूर अतीन्द्रियस्वरूप को देखा। तू अपने आपको ही निरख कि मुझे कोई क्लेश नहीं है। देखिये यह बहुत बड़े काम का विचार है। कोई पुरुष किसी भी स्थिति में हो, जिससे वह खुद भी समझे कि हम बड़ी आपत्ति में हैं, लोग भी जानें कि यह बड़े संकट में फंसा है ऐसी भी परिस्थिति में हो, कोई और वह चाहे तो वहाँ भी अपने को यों समझ सकता है कि मुझे कोई क्लेश ही नहीं है। क्लेश तो लोग कल्पनाएँ करके बना डालते हैं, जिसकी जो भी परिस्थिति हो उस ही परिस्थिति में उसे यों निरखना चाहिए कि मैं तो क्लेशरहित हूँ, यहाँ किस बात का क्लेश मानना? धन वैभव की हानि हो गयी तो उससे मेरा क्या बिगाड़ हो गया, वे तो परपदार्थ हैं। यह मैं तो पूरा का पूरा हूँ, और यहाँ तो मेरी कुछ भी हानि नहीं हुई है ऐसा जो पुरुष समझता रहता है उसे किसी भी परिस्थिति में क्लेश का

अनुभव नहीं होता है। यों तो अच्छी स्थिति में रहता हुआ भी कोई अपने को दुःखी अनुभव कर सकता है।

तो हे आत्मन् ! प्रथम तो तू अपने आत्मा में रहता हुआ अपने को समस्त क्लेशों से रहित अनुभव कर क्योंकि तू तो एक अमूर्तिक पदार्थ है, एक ज्ञानप्रकाशमात्र है। इसका किसी भी परपदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ा हुआ है। अपने उस अमूर्त स्वरूप को देख जो कि परम अविनाशी है, जिसका कभी भी विनाश न होगा। जिसमें कोई इन्द्रियां ही नहीं है, वह तो एक ज्ञानपुञ्ज है, आकाशवत् निर्लेप है, आकाश अचेतन है और यह ज्ञानपुञ्ज है। जैसे हम आकाश के स्वरूप का विवरण करना चाहें तो क्या विवरण करें? है आकाश और अपना कोई अनिर्वचनीय स्वरूप रखे हुए है, वहाँ कुछ पकड़ने का, देखने का, सूँघने का कुछ पाया जाता हो आकाश में तो उसका कुछ ब्योरा बनाये। सही मायने में जब हम आकाश के स्वरूप का निर्णय करते हैं तो यह देखते हैं- है तो यह और अनिर्वचनीय अमूर्तिक है। यों ही जब हम आत्मतत्त्व के विशेषण में चलते हैं तो ज्ञात होता है कि हूँ तो यह मैं केवल ज्ञानपुञ्ज जो जानता है बस वही मैं आत्मतत्त्व हूँ, अपने को ऐसा अमूर्तिक और अविनाशी अनुभव कर। हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है। विकल्प तेरे स्वरूप में नहीं है, इन्द्रियां तेरे स्वरूप में नहीं हैं ऐसा तू अपने को एक अतीन्द्रिय ज्ञानमात्र अनुभव कर। इस आत्मध्यान के प्रसाद से कर्मक्लेश दूर होंगे, जन्ममरण की परम्परा मिटेगी, निर्वाण की प्राप्ति होगी।

श्लोक- 915

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम्।

पश्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम्॥

अपने तो नित्यानन्दमय शुद्ध ज्योतिस्वरूप देखने का उपदेश- हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा में ही अपने को इस प्रकार टिका हुआ देख कि मैं नित्य आनन्दमय हूँ, जैसा मेरा ज्ञानस्वरूप है इसी प्रकार मेरा आनन्दस्वरूप है। जैसे हम ज्ञान के लिए कुछ अपनी समझ बनाते हैं कि हाँ मैं हूँ तो एक जाननरूप इसी प्रकार हम आनन्दस्वरूप को समझने के लिए समझ बनायें तो एक यही पायेंगे कि इसमें आकुलता नहीं है। बस इसी को ही आनन्द कह लो। एक सद्भूत अनिर्वचनीय परम आल्हादरूप कोई परिणति होती है आत्मा की। यह तो एक निषेध रूप में वर्णन है कि आकुलता

नहीं है, यही आनन्द है। यों आकुलतायें तो पुद्गल में भी नहीं हैं। आनन्द का कोई क्या सद्भूत स्वरूप नहीं है आत्मा में? केवल निराकुलता का नाम आनन्द नहीं किन्तु आनन्द उत्पन्न होता है वह आनन्द नामक स्वभाव कोई न होता तो सुख दुःख भी उत्पन्न न होते। इस आनन्दस्वभाव के ही विकार सुख दुःख है। तो यह सुख दुःख होना यह साबित करता है कि कोई गुण है आत्मा में जो गुण आज सुख रूप में व्यक्त है, दुःख रूप में व्यक्त है पर ये सुख और दुःख दोनों औपाधिक है, पर के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, अतएव ये मिट जाते हैं और उस समय आनन्दगुण का शुद्ध परम आल्हादरूप परिणमन हो जाता है जो कि निराकुल है। हे आत्मन् ! तू अपने को नित्य आनन्दमय निरख। तू सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूप मात्र है ऐसा अपने आपको देख। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, अविनश्वर हूँ, परमज्योति स्वरूप हूँ, ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, अद्वितीय हूँ, मैं जो हूँ सो हूँ। मुझमें कोई दूसरा नहीं है, और मेरा कायरहित भी स्वरूप नहीं है, नित्यपरिणमनशील हूँ, पूर्वपर्याय को विलीन करता हूँ और उत्तर पर्याय को उत्पन्न करता हूँ। यों समस्त पर्यायों में एक ज्ञानस्वरूप बना रहता हूँ। ऐसा अपने आपको नित्य आनन्दमय निरख। इस निरख से तू अपने आपकी शुद्ध ज्ञानज्योति का अनुभवन करेगा और यही उत्कृष्ट ध्यान तेरे क्लेशसमूह को दूर करेगा और एक परम शुद्ध निर्विकल्प निर्वाण की अवस्था प्राप्त हो जायेगी।

श्लोक- 916

यस्यां निशि जगत्सुप्तं तस्यां जागर्ति संयमी।

निष्पन्नं कल्पनातीतं स वेत्तयात्मानमात्मनि।।

रत्नत्रयसम्पन्नता से ही आत्मा का वास्तविक जागरण- जिस रात्रि में सारा संसार सोता है, मनुष्यजन सोते हैं, उसमें संयमी मुनि जागते हैं और अपने आत्मा में ही अपने को निष्पन्न स्वयं सिद्ध कल्पनारहित जानते हैं। यहाँ रात्रि से मतलब रात से नहीं है। अज्ञान का नाम रात्रि है और संयम का नाम जागरण है। मोही जन अज्ञानरूपी निशा में सोते रहते हैं और संयमी जन ज्ञानपूर्वक संयमसहित अपने आचरण में सावधान रहते हैं। जो रत्नत्रय में सावधान हो वह पुरुष तो जागता समझिये और जो रत्नत्रय से विमुख है, मिथ्यात्व, अज्ञान और मिथ्याचरण में रत है वह मनुष्य सोया हुआ समझिये। जैसे सोया हुआ पुरुष बेहोश रहता है इसी प्रकार उस मोह में सोया हुआ पुरुष बेहोश रहता है। अपना कुछ पता ही नहीं है। यदि आत्मपरिचय हो तो यह कहीं भी न

असहाय है, न आकुलित है, झट अपने आपके परमात्मस्वरूप के निकट पहुँचे और वहाँ आनन्द का अनुभव करे। आकुलताएँ सब दूर हो जाती हैं। अपना जो वास्तविक सहाय है वह मिल जाता है। लोक में तो बाहर कोई सहाय भी बने और निश्चल भी सहाय बने तब भी वह परमार्थ से सहाय नहीं है, उसका यह सहाय होना एक विनश्वर है, कुछ समय के लिए है। सदा तो संयोग होता ही नहीं है, पर अपने आपके प्रभुस्वरूप के निकट पहुँचे यही है वास्तविक सहाय होना। जो मुनि अपने आत्मा का यथार्थ श्रद्धान रखता है उस ही आत्मा की जानकारी बनाये रखता है, उस ही आत्मतत्त्व में लीन रहा करता है वह मुनि निराकुल है, प्रभुवत् है, जिनेश्वर का लघुनन्दन है। ऐसा ही पुरुष आत्मा का ध्यान करता है जिसके प्रसाद से परमनिर्वाण की प्राप्ति होती है।

श्लोक- 917

या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अज्ञानी और मुनि की निशा की विभिन्नता- सर्वप्राणियों में जो रात्रि मानी जाती है उसमें तो संयमी पुरुष जागता है और जिसमें समस्त प्राणी जागते रहते हैं वह मुनि के लिए निशा है, अंधकार है, रात्रि है। प्राणी किसमें सोते रहते हैं? प्राणी किसमें रात्रि मानते हैं? अपने स्वरूप का उन्हें प्रतिभास नहीं है इस कारण उनको यह अज्ञान बना रहता है, यही रात्रि है अर्थात् उनके लिए आत्मस्वरूप अंधेरे में पड़ा हुआ है। इसमें संयमी मुनि जागते रहते हैं। सच्चा शरण आत्मा को अपने आत्मस्वरूप का मिलता है, और वह आत्मा पवित्र है, महान है, सुख का पात्र है, सच्चा है जिसे अपने आत्मस्वरूप की धुन है और अपना यथार्थस्वरूप समझता और उसके ही निकट बसे रहने का यत्न करता है। तो जो तत्त्व मोही जीवों के लिए रात्रि की तरह है उसमें संयमी मुनि जागृत रहते हैं, और जिसमें संसार के प्राणी जागृत होते हैं वह मुनि के लिए निशा की तरह है। जगत के प्राणी किसमें जागते हैं? अज्ञान में जागते हैं। अज्ञान मुनि के लिए रात्रि है अर्थात् मुनियों के अज्ञान होता ही नहीं है। धन कन कंचन राजसुख ये सब लौकिक वैभव हैं, ये सब सुलभ हैं अर्थात् उनका कुछ महत्त्व नहीं है, लेकिन अपने आपके यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाना यह बड़े महत्त्व की चीज है।

बड़े बड़े अधिकारी भी हों, राजा महाराजा भी हों, बड़े ऊँचे नेता हों, करोड़ों का धन हो, सब तरह से लोकवैभव में बड़े चढ़े हों और एक अपने आपके आत्मस्वरूप का परिचय न हो तब सोच लीजिए कि उनकी दृष्टि किस तरह रहा करती होगी? कुछ लौकिक वैभव पाकर थोड़ा मौज भी मान लिया उसमें भी उन्हें क्षोभ लगा रहता है, शान्ति नहीं मिलती। शान्ति का जो स्थान है सहज ज्ञायकस्वरूप उसका उन्हें परिचय ही नहीं है। शान्ति कहाँ से मिले? जिसे लोग (वैभववान) शान्ति समझते हैं वह शान्ति नहीं है, किन्तु एक काल्पनिक मौज है अथवा यों कहो कि बड़ा क्लेश नहीं रहा ऐसी स्थिति पायी तो उसे वे शान्ति समझ लेते हैं। जैसे किसी को 100 डिग्री बुखार है उतरकर 98 डिग्री रह गया तो जब कोई पूछता है कि कहो भाई अब तबीयत कैसी है? तो वह कहता है कि ठीक है। अरे कहाँ ठीक है, अभी तो दो डिग्री बुखार है। लेकिन बहुत बड़ा बुखार था अब कुछ कम हो गया तो उसको अच्छा मानते हैं, उसमें राजी होते रहते हैं, ऐसे ही जगत में अनेक कष्ट हैं, वे कष्ट कुछ कम हो जायें तो यह जीव राजी होता है, अपने को सुखी मानता है, अब मुझे शान्ति मिली है ऐसा समझता है। अरे शान्ति कहाँ मिली, उसमें भी परपदार्थों की कल्पनाएँ हैं तो क्षोभ वहाँ भी पड़ा हुआ है और थोड़ी देर बाद शान्ति सब गायब हो जाती है, मानो वह शान्ति कुछ थी ही नहीं, फिर एकदम आकुलित हो जाते हैं।

आत्मस्वरूप के परिचय बिना शान्ति की असंभवता- इस आत्मस्वरूप का परिचय मिले बिना शान्ति हो ही नहीं सकती है। तो सर्वप्राणी चाहे वे बड़े पुण्यवान हों, बड़ा बड़ा वैभव भी हो लेकिन आत्मस्वरूप का परिचय नहीं है, इस ओर से बेहोश हो रहे हैं तो उनका जीवन कोई जीवन नहीं है। और एक संयमी मुनि जो अपने निकट निरन्तर रहा करते हैं वे निकट काल में ही कर्मों का विनाश करके परमात्मस्वरूप पा लेंगे। सबसे बड़ा काम है यह कि अपना ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व के निकट बना रहे। कितनी पवित्र स्थिति है यह, और सत्य आनन्द ही यहाँ से झरता है। इतनी बात यदि कोई कर सकेगा तो समझ लीजिये कि जीवन सफल हो गया। अनादिकाल से जो रुलते चले आ रहे थे, जन्म मरण करते चले आ रहे थे और इस शरीर सम्बन्ध के कारण अनेक प्रकार के कष्ट सहते रहते थे उन सबका विनाश हो सकता है तो एक तत्त्वज्ञान के उपाय से हो सकता है। वैभव का क्या, आज है कल रहे अथवा न रहे, जितने समय साथ है उतने समय भी उस वैभव के कारण शान्ति कहाँ मिलती है? सभी की स्थितियाँ देख लो जिसे जो कुछ मिला है वह उसे न कुछ समझता है, उससे अधिक की चाह करता है, तो मिले हुए का भी सुख उसे नहीं मिलता है। सभी धनिकों की ओर देख लो, सबकी यही स्थिति है, सुख से खा नहीं सकते, सुख से रह नहीं सकते, सत्संग में, धर्मध्यान में, ज्ञानार्जन में समय नहीं दे सकते वह जिन्दगी क्या जिन्दगी है? जिसका धर्म में और ज्ञानार्जन में समय न लगे, रुचि न जगे, प्रयत्न न बने तो वह जीवन क्या

जीवन है? यों तो सभी की जिन्दगी गुजरती है। एक ने मान लो कुछ लौकिक जनों में अपना प्रभाव डालते हुए जिन्दगी गुजारा तो भी उससे क्या होगा। यह तो संसार मायारूप है, किसे क्या दिखाना है। क्या कोई यहाँ मेरा प्रभु है जिसे कि यहाँ दिखा दूँ कि मैं कितना महान हूँ, कितना सुन्दर हूँ, कैसी कला वाला हूँ, किसे दिखायें। और, जितना ज्ञान की ओर रहे, यहाँ आत्मा का रमण बना रहे तो यही है आन्तरिक सच्चा तपश्चरण। इसके प्रभाव से इस लोक में भी सुख शान्ति के साधन मिलते रहेंगे। मोही पुरुषों में और ज्ञानी साधु संतजनों में एक बहुत बड़ा अन्तर है। एक का मुख है वैभव की ओर और एक का मुख है आत्मतत्त्व की ओर। यों ही समझ लीजिए कि दोनों के मुख बिल्कुल विपरीत दिशा में हैं। जो पुरुष आत्मतत्त्व के निकट है, रत्नत्रय की साधना में है वे पुरुष तो आत्मध्यान प्राप्त कर लेंगे। और संसार के संकटों से सदा के लिए छूट जायेंगे। और, जो इन विषयों के निकट है उनका उपयोग गंदा रहेगा। जिसके कारण उन्हें इस संसार में जन्म मरण करते रहना पड़ेगा। तो विवेक इसमें है कि हम अपनी ऐसी सदबुद्धि बनायें कि हमारी विषयकषायों में आसक्ति प्रवृत्ति न हो और मैं अधिकाधिक अपने ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व की ओर रहा करूँ, ऐसी भावना और कोशिश होना चाहिए।

श्लोक- 918

यस्य हेयं न वाऽऽदेयं निःशेषं भुवनत्रयम्।

उन्मीलयति विज्ञानं तस्य स्वान्यप्रकाशम्।

ज्ञान का विशुद्ध अभ्युदय प्राप्त होने पर हेय आदेय के विकल्पों का भी अभाव- जिस मुनि के ये तीनों लोक हेय भी नहीं, उपादेय भी नहीं उस मुनि के स्व और पर का यथार्थ निर्णय कराने वाले ज्ञान का उदय होता है क्योंकि जब तक हेय और उपादेय बुद्धि में रहेगा तब तक ज्ञान निर्मलता से फैल नहीं सकता है। जीवों के उत्थान के क्रम से सोपान है। सर्वप्रथम तो यह जीव कुछ भी जाने बिना अपने कुल के संस्कार से या किसी सत्संग से सद्व्यवहार में लगता है। सत्संग, देवदर्शन, पूजन, विधान इन सबमें लगता है और इसके पश्चात् फिर वह ज्ञान उत्पन्न करता है। मैं पूजन कर रहा हूँ तो किसका कर रहा हूँ? प्रभु का क्या स्वरूप है, सो ज्ञान करके प्रभु के स्वरूप में उसकी भक्ति बढ़ती है। पहिले भक्ति व्यवहार की थी, अब गुणों की भक्ति करने लगा है यह भक्त, फिर और ज्ञान बढ़ा, तत्त्वनिर्णय किया, आत्मस्वरूप परिचय किया, जब उसका ज्ञान और निर्मल

बना तो इस ज्ञान की स्थितियों में पहिले कुछ हेय समझता था, कुछ उपादेय समझता था पर ज्यों और ज्ञान की स्थिति निर्मल होने लगी तो जिन्हें पहिले हेय समझता था उन्हें तो हेय ही समझता रहेगा, किन्तु जिन्हें उपादेय समझता था उनमें से अनेक अंश अब उसे हेय लगने लगते हैं। ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों हेय की कोटि बढ़ती जाती है और उपादेय इसके निकट आता रहता है। जब परिपक्व ज्ञान हो जाता है उस समय जगत के किसी भी पदार्थ में अथवा अपनी किसी भी प्रवृत्ति में हेय और उपादेय की बुद्धि नहीं रहती। जैसे प्रथम वचन सत्संग ये सब उपादेय हैं और जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि जहाँ ज्ञान का अनुभव होने लगता है, ज्ञान ज्ञान को जानकर एक अनुभवरूप बन जाता है तो वहाँ फिर ये सब न हेय रहते हैं, न उपादेय रहते हैं। एक निर्विकल्प ज्ञान का अनुभव चलता रहता है। तो जब ऐसी ऊँची परिणति हो जाती है कि ये तीनों ही लोक और अपने आपकी ये समस्त औपाधिक परिणतियाँ चाहे वे विशुद्ध रूप हों, चाहे संक्लेशरूप हों, चाहे धर्म में लगाने के विकल्प हों या अन्य कुछ हों, वे सबके सब एक अपेक्षा बन जाते हैं, अब वे हेय न रहे, न उपादेय रहे, हेय और उपादेय का विकल्प जहाँ टूट जाता है ऐसे विज्ञानी मुनि के अपना और पर का प्रकाश करता हुआ उदित होता है और जब तक इस जीव के हेय और उपादेय की बुद्धि रहती है, यह हेय है इसे छोड़ो, यह उपादेय है इसे ग्रहण कर लीजिए यों छोड़ने और ग्रहण करने में जिनका चित्त लगा रहता है उनके ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। जिन भी पुरुषों का ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हुआ है, अरहंत अवस्था प्राप्त हुई है उनको एक निर्विकल्प ज्ञानानुभव के उपाय से ही मिली हुई है। निर्विकल्प ज्ञानानुभव में हेय और उपादेय का भाव नहीं चलता, अमुक हेय है और अमुक उपादेय है। जब हेय और उपादेय के विषय से भी परे हो जाते हैं फिर तो ज्ञान पूर्ण विकसित हो जाता है। रागद्वेष विकल्पों के दूर होने पर ज्ञान के विकास को कौन रोके, अथवा रोकने की क्या पड़ी? ज्ञान का विकास तो अभीष्ट है, होने तो दीजिये विकास।। तो सर्वप्रकार के विकल्प जब दूर हो जाते हैं तो अपने आपमें आपका विकास होने लगता है।

श्लोक- 919

दृश्यन्ते भुवि किं न तेऽल्पमतयः संख्याव्यतीताश्चिरम्
 ये लीलां परमेष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति वाग्भिः परम्।
 तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
 र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः॥

परम हितमय तत्त्व के अनुभवी की विरलता- वे पुरुष धन्य हैं और इस पृथ्वी पर वे पुरुष बिरले हैं, कठिनाई से उनका संग मिलता है जो पुरुष अपने वचनों से परमेष्ठियों के बहुत काल पर्यन्त गुणानुवाद करते रहते हैं। प्रभु भजन एक बहुत धन्य और पवित्र काम है। प्रभु का स्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति सम्पन्न है। अरहंत अवस्था में उनके शरीर तो है पर वह निर्दोष है, परमौदारिक शरीर है। ऐसे पवित्र शरीर में वे यद्यपि ठहरे हुए हैं तो भी वे असंसारी ही कहलाते, निकटसंसारी नहीं कहलाते, जीवनमुक्त कहलाने लगते हैं। ऐसा परमेष्ठी के स्वरूप का जो ध्यान करता है वह भक्त भी बड़ा पवित्र हृदय है। प्रभुभक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है। प्रभुभक्ति निश्छल हो, गुणों की रुचि सहित हो तो उस भक्त के चित्त में विषयकषायों के मलिन परिणाम, दुःखकारी, अहितकारी भाव फिर नहीं ठहरते हैं, और विषयकषायों के भाव न रहें, आत्मा में तो यही एक सर्वसुख मिल गया समझिये। विषयकषायों के परिणाम आत्मा को क्लेश ही उत्पन्न करते हैं। आकुलताओं से ही विषयकषाय के भाव बनते हैं, उनकी पूर्ति की आरम्भ में भी आवश्यकता रहती है। और, जब उनमें प्रवृत्ति है तब भी आकुलता है, और की तो बात क्या, विषयकषाय अनुभवन के पश्चात् भी इसे महान क्लेश रहता है, जिसे मानो हमने अपना कुछ खोया पाया कुछ नहीं। कषायें करते हैं, उन कषायों के कर गुजरने के बाद फिर बुद्धि चूँकि स्वच्छ होती है तब पछतावा होता है। अहो ! मैंने क्या किया? अपना खोया है सब कुछ, लाभ कुछ नहीं पाया। तो ये विषयकषाय के परिणाम आत्मा को क्लेश के ही कारण हैं। इन विषयकषायों ने अत्यन्तरहित केवल ज्ञान की मूर्ति परमात्मस्वरूप का जो विकासपूर्वक आदर करते हैं वे पुरुष धन्य हैं। ऐसे पुरुष यद्यपि हैं बिरले, मगर उन महापुरुषों की संख्या के सामने बहुत अधिक संख्या वाले हैं। किन्तु महापुरुषों के सामने जो नित्य परम आनन्द के स्वरूप का अनुभव करते हैं और संसार के क्लेशों को दूर कर देते हैं ऐसे महापुरुष इस पृथ्वी पर अत्यन्त दुर्लभ हैं। प्रथम तो प्रभु भजन भी करने वाले इस लोक में अत्यन्त बिरले हैं। मनुष्यों की संख्या देख लीजिये और उनके कितने मनुष्य प्रभु को मानने वाले हैं उनकी संख्या देखिए और फिर स्वच्छ हृदय से छलरहित प्रभु के गुणों में रुचि करने वाले कितने लोग हैं उनकी संख्या देख लीजिए। ये फिर भी असंख्यात मिलेंगे, किन्तु जो एक तत्त्वज्ञान से ही रुचि रखते हैं और जो ज्ञानस्वरूप में ही अपना उपयोग बनाये रहते हैं ऐसे ज्ञानपुञ्ज साधु संतजन जो संसार के परिभ्रमण को शीघ्र दूर कर देते हैं वे महाभाग इस पृथ्वी पर बहुत दुर्लभ हैं।

ध्यान की प्रधान सामग्री का अवलम्बन लेकर नित्यानन्दमय मोक्ष का लाभ लेने का अनुरोध- इस स्थल में एक रत्नत्रय का वर्णन किया है। रत्नत्रय का स्वरूप कहा, रत्नत्रय के धारियों की महिमा कही गयी। उससे हमें यह शिक्षा लेना है कि ध्यान के अंगों में प्रधान अंग ये तीन हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीन निश्चय रूप और व्यवहाररूप हैं। अथवा यों समझिये कि ये तीन निश्चय की शैली से और व्यवहार की शैली से प्रकाशमान होते हैं, जो निश्चयरूप और व्यवहाररूप रत्नत्रय को जानकर भली प्रकार स्वीकार करता है उसके ही मोक्ष के कारण जो आत्मस्वरूप का ध्यान है उसकी सिद्धि होती है। आत्मध्यान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और आत्मध्यान उनके ही बनता है, जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को अंगीकार करते हैं। अन्य लोग तो इनका अनेक प्रकार से ध्यान करते हैं और ध्यान की सामग्री का स्वरूप बताते हैं, उनके कदाचित् विनिश्चय लौकिक चमत्कार की सिद्धि भी हो जाय पर अष्टकर्मों से रहित होकर पवित्र केवल अन्तस्तत्त्व ही रह जाय, जिनके ज्ञान और आनन्द का अनन्त विकास है ऐसी स्थिति की सिद्धि उनके कभी नहीं हो सकती जो रत्नत्रय से तो दूर हैं और ध्यान की साधना में बहुत बहुत अपने शारीरिक उपाय बनाये रहते हैं- जैसे प्राणायाम करके अपने शरीर के भीतर के अङ्गों की शुद्धि कर लेना, और यहाँ तक निपुण हो जाते हैं कि नासिका के द्वार से कपड़े की पतली चिट मुँह से निकाल लेते हैं और फिर नासिका को साफ कर लेते हैं, यहाँ तक अङ्गशुद्धि कर लेते हैं, और-और भी जितनी आसनसिद्धियाँ हैं उन्हें भी कर लेते हैं और कुछ लौकिक चमत्कार भी बन जाते हैं, कदाचित् आश्चर्यजनक काम भी कर डालते हैं लेकिन एक लौकिक सिद्धि तक ही रह जाते हैं, मोक्ष की सिद्धि नहीं रहती है क्योंकि मुक्त स्वरूप सहज ज्ञानभावमात्र अन्तस्तत्त्व का उनके परिचय ही नहीं है, उस परमसिद्धि का कारण तो सत्य आत्मध्यान है और उस आत्मध्यान की प्राप्ति होती है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप होने से। उसके सिलसिले में इस स्थल में रत्नत्रय का वर्णन किया है। जो रत्नत्रय सम्पन्न है वह ध्यान का पात्र होता है। यहाँ तक ध्यान ध्याता ज्ञान के उपाय इन सबका वर्णन किया है। इसके पश्चात् फिर कषाय और विषयों के जीतने का उपाय कहा जायेगा और फिर उस स्थल के बाद फिर ध्यान का सीधा वर्णन चलेगा कि ध्यान किस तरह किया जाता है? लोग कैसे ध्यान करते हैं, कैसे करना चाहिए? ध्यान की विधि का सीधा वर्णन चलेगा।

॥ज्ञानार्णव प्रवचन एकादश भाग समाप्त॥